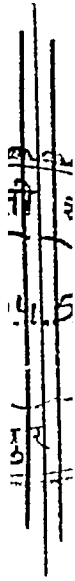


श्रीहरिः

मानव-जीवनका लक्ष्य



लेखक—

हनुमानप्रसाद पोदार

मुद्रक नदा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सवत् २०३७ प्रथम संस्करण ४०,०००

मूल्य तीन रुपये

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

नम्र निवेदन

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी योंद्वारके लेखोंका यह एक सुन्दर चयन आपकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। ये लेख समय-समयपर 'कल्याण' में प्रकाशित हुए हैं। इस संग्रहमें विभिन्न आध्यात्मिक विषयोंके साथ-साथ अतिशय उपादेय ठोस सामग्रीका समावेश हुआ है।

व्यक्तिके जीवनका प्रभाव सर्वोपरि होता है और वह अमोघ होता है। श्रीभाईजी अध्यात्म-साधनकी उस परमोच्च स्थितिमें पहुँच गये थे, जहाँ पहुँचे हुए व्यक्तिके जीवनसे जगत्का, परमार्थके पथपर बढ़ते हुए जिज्ञासुओं एवं साधकोंका मङ्गल होता है। हमारा विश्वास है कि जो व्यक्ति इन लेखोंको मननपूर्वक पढ़ेंगे एवं अपने जीवनमें उनकी बातोंको उतारनेका प्रयत्न करेंगे, उनको परमार्थपथमें निश्चय ही विशेष सफलता प्राप्त होगी।

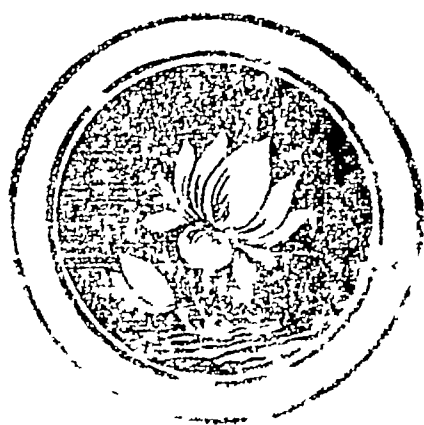
—प्रकाशक

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-मानव-जीवनका लक्ष्य—भगवत्प्राप्ति	... ७
२-साधनके दो प्रकार	... १९
३-मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य	... २९
४-साधकका स्वरूप	... ३७
५-मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति	... ५४
६-रस (प्रेम) साधनकी विलक्षणता	... ५६
७-विलक्षण भाव-जगत्	... ७९
८-चरम और परम उपासनाका सुधा मधुर-फल—भगवत्प्रेम	... ९४
९-रास-रहस्य	... १०४
१०-भक्तका एकाङ्गी प्रेम	... १२२
११-श्रीकृष्ण-महिमाका स्मरण	... १२४
१२-श्रीराधा-माधवका मधुर रूप-गुण-तत्त्व	... १६७
१३-श्रीराधामाधव-युगलोपासना	... २०२
१४-भक्ति-तत्त्वका दिग्दर्शन	... २३३
१५-वृन्दावनवासके लिये स्थिर मनकी आवश्यकता	... ३०२
१६-परम त्यागी गोस्वामी रघुनाथदाम	... ३०६
१७-मानव जीवनका उद्देश्य और छात्रों तथा सरकारसे प्रार्थना	३१४
१८-भजन क्यों नहीं होता	... ३३५
१९-बहुत आवश्यक ध्यान रखनेकी बातें	... ३४४
२०-मान-बढ़ाई—मोठा विष	... ३५०
२१-मृत्युके समय क्या करें ?	... ३५६
२२-सर्वार्थसाधक भगवन्नाम	... ३५९

२३-नामकीर्तन-महिमा	३६३
२४-महामना मालवीयजी और भगवन्नाम-महिमा		...	३६५
२५-रामनामका फल	३८३
२६-विविध कार्योंके लिये विभिन्न भगवन्नामोंका जप-स्मरण		...	३८९
२७-भारतीय चार आश्रमोंके धर्म और पालनीय नियम		...	३९७
२८-दुःखमे भगवत्कृपा	४०४
२९-दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य	४२५
३०-आसुरी शक्तियोंपर विजय पानेके लिये भगवदाराधन और देवाराधन कीजिये	४४९
३१-भगवान्का मङ्गल-विधान	४५२
३२-करने योग्य	४५३
३३-दोष न देखकर गुण देखिये	४५५
३४-हम भगवान्के ही हैं	४७२
३५-भक्तका कर्मयोग	४७४
३६-भक्तकी भावना	४७५
३७-भगवान्की अमोघ कृपा	४७६
३८-चोरी-वेईमानी	४७७
३९-सत्सङ्ग वाटिकाके त्रिखरे सुमन	४८०
४०-कल्याण-सूत्र	४९५
४१-भगवान् मेरे सहायक हैं, मुझे कोई भय नहीं		...	४९८
४२-सकटके समय विश्वासी भक्तकी भावना		...	४९९
४३-प्रतिशोधकी भावनाका त्याग करके प्रेम कीजिये		...	५००
४४-भगवान्की वस्तु भगवान्को सौंप दो		..	५०८
४५-भगवान् श्रीसोतारामजीका ध्यान	५१३
४६-भगवान्का मङ्गल-विधान	५२२
४७-मोचीमें मनुष्यत्व	५२७





श्रीहरिः

मानव-जीवनका लक्ष्य

मानव-जीवनका लक्ष्य—भगवत्प्राप्ति

भगवान्ने कहा है—‘माया बड़ी दुस्तर है । इस मायासे कोई भी सहजमें पार नहीं हो सकता, परंतु मेरे शरणापन्न व्यक्ति इस मायासे तर जाते हैं ।’ भगवान्के अतिरिक्त जो कुछ भी है—असत् है, माया है और उसको जीवनसे निकालना है । भगवान्के शरणापन्न होनेपर जीवनमेंसे यह मिथ्यापन निकल सकता है । मानव-जीवनमें यही एकमात्र करनेयोग्य कार्य है । मानव-जीवनका यही एकमात्र कर्तव्य और उद्देश्य है ।

धनकी प्राप्ति चाहनेवाला मनुष्य जैसे स्वाभाविक ही क्षुद्र-सी भी धनहानिके प्रत्येक प्रसंगसे बचता है और लाभका प्रत्येक कार्य करता है; वह ऐसा इसीलिये करता है कि पैसेके रहने और मिलनेमें अपना लाभ मानता है और जानेमें या न रहनेमें हानि; इसी प्रकार भगवान्का भजन करनेवाला पुरुष भजन होनेमें लाभ तथा न होनेमें हानि मानता है । इसलिये वह स्वाभाविक ही वही करता है जिससे भजन बनता और बढ़ता है, वह ऐसा कार्य कभी नहीं करता, जिससे भजन नहीं बनता या घट जाता है ।

हम सभी आत्यन्तिक सुख चाहते हैं । ऐसा सुख चाहते हैं जो अनन्त हो, परंतु मोहवश चाहते वहाँसे हैं, जहाँ सुख है नहीं । अथवा उससे, जो सुखका बहुत बड़ा खाँग तो बनाये हुए है, पर है दुःखसे पूर्ण । जहरसे भरी हुई मिठाई मीठी लगती है निस्संदेह, पर वह मारनेवाली ही होती है । जहरका ज्ञान न होनेसे या ज्ञान होनेपर भी खादके लोभसे लोग उसे खा लेते हैं । मीठी है तो क्या; उसका घातक प्रभाव तो होगा ही । भोग-जगत् भी ठीक ऐसा ही है । इसीलिये भगवान् ने इन्द्रिय-भोगोंको भोगकालमें अमृतके समान और परिणाममें विषके सदृश मारनेवाला बताया है । 'यत्तदत्रेऽमृतोपमम् ।' 'परिणामे विषमिव ...' । भगवान् ने तो इस भोग-जगत्को 'असुखम्', 'दुःखालयम्' और 'दुःखयोनिः' कहा है । अर्थात् यह जगत् सुखरहित है, अनित्य है और वखालय, विद्यालय, औषधालयकी तरह 'दुःखोका आलय' है और 'दुःखयोनि'—दुःखोंकी उत्पत्तिका स्थान है । इस सुख-रहित, दुःखालय तथा दुःखोंके क्षेत्र-जगत्से सुख-प्राप्तिकी आशा करके, केवल आशा ही नहीं, आस्था रखकर, हम उसके लिये रात-दिन प्रयत्नशील रहते हैं । यह हमारा बड़ा भारी मोह है । यह आशा, यह आस्था, यह कल्पना वैसे ही मिथ्या है, जैसे जहरको मिटानेके लिये जहरका प्रयोग, अन्धकारको निकालनेके लिये दीपकका बुझा देना । तेलकी आशासे बालूको कितना ही पेरा जाय, बालू काजल-सी महीन होकर उड़ सकती है, पर तेल नहीं मिलेगा । इसीलिये नहीं मिलेगा कि उसमें तेल है ही नहीं । जो चीज जहाँ नहीं है, वहाँसे उस वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती । सुखरहित भोग-जगत्से

सुखकी प्राप्ति असम्भव है । दुःखालय और दुःखयोनि जगत्से सुखकी आशा ही भ्रम है—मोहान्धकार है ।

जगत्में {सुख-प्राप्तिकी दुराशामें जीव सतत जगत्का चिन्तन करता है और अपने अंदर अनवरत गंदा कूड़ा भरता चला जाता है । मनुष्यकी अन्तरात्मा जलती रहती है । जागतिक ऐश्वर्यसे परिपूर्ण, सुख-सुविधाओसे सम्पन्न धनी-मानी लोग भी जलते हैं, उच्च राष्ट्र-प्रधिकारी और उद्भट विद्वान् भी जलते हैं, शान्तिकी बात करनेवाले उपदेशक और तर्कशील दार्शनिक भी निरन्तर जलते हैं । बड़ी शान्तिके स्थानपर या अत्यन्त शीतप्रधान देशमें अथवा बिजलीके द्वारा ठंडे किये कमरेमें बैठे रहनेपर भी सदा जलते रहते हैं । वह आग बाहर नहीं भीतर है, जो हमेशा जलाती रहती है । बाहरके किसी साधनसे भीतरकी आग शान्त नहीं हो सकती । भीतरकी इस आगको श्रीतुलसीदासजीने 'याचकता' कहा है । विप्रयोके मनोरथकी आगसे—इस 'कामज्वर'से सभी सतत हैं । बाहरी चीजोको बदलने या मिटाने-हटानेसे क्या होगा ? जो चीज जला रही है, उसीको जला देना चाहिये । इस याचकताको—भोग-कामनाको भगवान्ने गीतामें 'ज्वर'का नाम दिया है । भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—

निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।

(गीता ३ । ३०)

'युद्ध करो, परंतु तीन वस्तुओंसे छूटकर । राज्य तथा भोगोंकी आशा छोड़कर, देह तथा देह-सम्बन्धी सारी ममता छोड़कर

और कामनाके ज्वरको उतारकर ।' कामना रहेगी तो अंदर-ही-अंदर ज्वर बढ़ेगा ।

इसीलिये गोखामीजीने कहा—'जगत्में किसीसे याचना मत करो; माँगना ही हो तो भगवान् श्रीरामसे माँगो और श्रीरामको ही माँगो । भगवान्को माँगनेका अर्थ ही है—भगवान्की प्राप्ति । सारी शान्ति—सारा सुख भगवान्में ही है; अन्यत्र कहीं है ही नहीं । इसीलिये भगवान्से भगवान्की ही याचना करो—

जग जाँचिय फ़ोउ न जाँचिय जो जिय जाँचिय जानकि जानहि रे ।

जेहि जाँचत जाँचकता नरि जाय जो जारत जोर जहानहि रे ॥

भोगोकी कामना और कामनाकी सिद्धिसे सुखकी प्राप्ति—यह झूखता है । यह कभी सम्भव नहीं । भगवान्की कृपासे ही शरणागति या ज्ञानकी प्राप्ति होगी । तभी दुःखका नाश और सुखकी प्राप्ति होगी । भोग-कामनाकी अग्नि प्रचण्ड है । विषयोंके सेवनसे, बहुत-से भोगोसे इसकी शान्ति नहीं होती । अग्निमें जितना ही ईंधन-घृत पड़ेगा, उतनी ही अग्नि भभकेगी । इसीलिये भगवान्ने इस 'कामना'को 'महाशन' कहा—इसका पेट कभी भरता ही नहीं ।

बुझै न काम अग्नि तुलसी फ़हुँ विषय भोग बहु वी तें ।

अशान्तिसे कभी शान्ति मिल नहीं सकती । चाहे कोई स्वीकार करे या न करे, भोगोंसे सुख मिल नहीं सकता, भले, थोड़ी देरके लिये कोई उसे भूलसे सुख मान ले । भ्रमवशात् सुखके भवन भगवान्को भूलकर लोग भोगोका ही रात-दिन चिन्तन करते हैं ।

मानव-जीवनका लक्ष्ये-भगवत्प्राप्ति

भोग-सम्बन्धी बातें सुनते-बढ़ते-मनन करते हैं और उसी गंदगीको अपने अंदर भरते चले जाते हैं।

जयपुर

इससे छूटनेके लिये शास्त्रोंने बड़ी सुन्दर युक्ति-बतायी है। जो बीत गया, उसपर कोई अधिकार नहीं। 'वर्तमान' साधकके हाथमें है। मनरूपी गोदाममें अबतक जो कूड़ा भरा गया, सो भरा गया। अब उसमें अभीसे भगवद्भावोंको, भगवत्प्रीति-उत्पादक शुभ कर्मोंको भरते जायें। शुभ कर्मोंकी तीव्र सुवास कूड़ेकी दुर्गन्धको दबा देगी और अपनी सुवास फैला देगी।

वर्तमानको सुधार लें तो भविष्य अपने-आप सुधरेगा और भूतकालका भय भी मिट जायगा। हम जो कुछ भी अच्छा-बुरा कर्म करते हैं, उसकी स्फुरणा पहले मनमें होती है। स्फुरणा संस्कारोंसे होती है और उन संस्कारोंसे होती है जो वर्तमानके नये कर्मोंके होते हैं। जैसे गोदाममेंसे माल निकालना हो तो पहले वह निकलता है जो सबसे ऊपर या सबसे आगे नया भरा हुआ है; इसी प्रकार वर्तमानमें शुभ कर्म करनेपर शुभ संस्कार होंगे, शुभ संस्कारोंसे शुभ स्फुरणा होगी, शुभ स्फुरणासे फिर शुभ कर्म होंगे—इस प्रकार शुभका एक चक्र बन जायगा। शुभ तथा सुन्दर भावोंका साम्राज्य हो जायगा; जो सारे पिछले अशुभ संस्कारोंको दबा लेगा या पीछे ठेल देगा। जिस गोदाममें अबतक लहसुन-प्याज भरा गया, उसमें अब कस्तूरी, कपूर भरना आरम्भ कर दे। गंदी वस्तुको नवीन सुवासित वस्तु पूर्णतः आच्छादित कर लेगी। मनमें पहले उठनेवाली गंदी स्फुरणाएँ तथा संस्कार शान्त हो जायेंगे। और यदि कहीं शुभ कर्मोंका परिमाण बढ़

गया और उनमें निष्कामभाव आ गया एवं ज्ञानानि प्रकट हो गयी—कपूर अत्यधिक मात्रामें इकट्ठा हो गया और कहीं दिया-सलाई लग गयी तो गोदामके नीचे तथा पीछेके भले-बुरे, केसर, लहसुन आदि सभी पदार्थ—शुभ-अशुभ सभी कर्म दग्ध हो जायेंगे । भगवान् श्रीकृष्णने (गीता ४ । ३७में) कहा है—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।

‘ज्ञानाग्निके प्रज्वलित होते ही सारे शुभ-अशुभ कर्म भस्म हो जाते हैं ।’ अतः सावकको वर्तमानमें अत्यन्त तत्परताके साथ तुरन्त भगवत्-साधनामें लग जाना चाहिये ।

जागतिक राग-द्वेषकी चर्चा, भोगोक्ती बातचीत मल है—विप्र है । जहाँतक हो सके, अपनी ओरसे इसकी अनावश्यक चर्चा ही नहीं करनी चाहिये । बोलना अपने अधीन है, सुनना अपने अधीन नहीं । दूसरे जो बोलें, उसे सुनना ही पड़ता है । परंतु यदि मन अन्यत्र लगा रहे, तो श्रवण भी नहीं होगा, सुनकर भी अनसुना रहेगा । अतः वर्तमानमें अपनी सारी इन्द्रियोंको भगवान्में समर्पित कर दे । इसमें सावधानीकी आवश्यकता है । साधनाका अर्थ सावधानी है । गिरनेसे आदमी बचना रहे । निरन्तर उठनेकी चेष्टा करता रहे—

उद्धरेदात्मनात्मानं

नात्मानमवसादयेत् ॥

(गीता ६ । ५)

आत्माको कभी गिरावे नहीं । जहाँ भगवच्चर्चा हो, वहाँ मन लगाकर सुनना चाहिये और जहाँ जगच्चर्चा हो, वहाँ सुनना बंद कर दे । कवि ठाकुरने ठीक ही कहा है—

कानन दूसरो नाम सुनै नहिं एकहि रंग रँगो यह डोरो ।
 धोखेहु दूसरो नाम कढ़े रसना मुख डारि हलाहल बोरो ॥
 ठाकुर प्रीतिकी रीति यही हम सपनेहु टेक तजै नहिं भोरो ।
 बावरि वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो ॥

दुष्टमुँहे जहर-भरे घडेके समान जगत्के बाहरी गोरेपनको जो आँखें देखती हैं, उनका तो जल जाना ही उचित है । श्रीगोखामी तुलसीदासजी महाराजने प्रतिज्ञा कर ली—‘कानसे दूसरी बात सुनूँगा नहीं और जीभसे दूसरी बात कळूँगा नहीं । आँखोंको दूसरी चीज देखनेसे रोक दूँगा और मेरा सिर वहीं नमित होगा, जहाँ भगवान् दिखलायी देंगे—

सुवननि और कथा नहिं सुनिहौँ रसना और न गइहौँ ।
 रोकिहौँ नैन विलोकत औरहिं सीस ईस ही नइहौँ ॥

इसे आदर्श मानकर जहाँतक बने, संसारकी उतनी ही बात सुननी चाहिये, जितनी आवश्यक हो । अन्य बातोंको न सुने, न कहे और न उसमें रुचि ले । परापवादसे, परनिन्दा एवं परस्तुतिसे बचना चाहिये । भागवत-माहात्म्यमें आया है—

अन्येषु दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा ।

दूसरोके गुण-चिन्तन करनेसे आसक्ति होगी और दोषचिन्तन करनेसे द्वेष होगा । ये दोनों ही जगत्में बन्धनकारक हैं । अतः गुण और दोष दोनोंका ही चिन्तन न किया जाय । यदि न रहा जाय तो दूसरेके गुण देखे और अपने दोष देखे । जिसे दूसरेके दोष तथा अपने गुण दिखलायी नहीं देते, वह भाग्यवान् व्यक्ति है और

जिसे दिखलायी देते हैं वह मन्दभागी है। वह मन्दभागी दूसरेके दोषोंको देखकर अपनेमें दोषोका ही संग्रह करता है।

हम जो कुछ देखते-सुनते, कहते, सूँघते, स्पर्श करते तथा विचार करते हैं, वही हमारे मनमें निवास करता है। यदि मनमें भगवान्को बसाना है तो भगवान्को ही देखना-सुनना-समझना चाहिये। जैसा हमारा मन है, वैसा ही हमारा स्वरूप है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।

(गीता १७ । ३)

मनके तामसी होनेसे हमारा स्वरूप तामसी होगा और तामसी व्यक्तिकी गति नीची होती है—

‘अधो गच्छन्ति तामसाः ।’

जो लोग साधना करना चाहते हैं और अपना कल्याण चाहते हैं, उनके लिये समझदारीकी बात यही है कि वे भोग-जगत्से यथा-साध्य वर्चें—जगत्की व्यर्थ चर्चासे वर्चें। साधकोंके लिये तो परदोष-दर्शन और परदोष-चिन्तन बहुत बड़ा विघ्न है। साधकोंको अपने दोष-दर्शनसे ही अवकाश नहीं मिलना चाहिये—

बुरा जो देखन मैं गया बुरा न पाया कोय ।

जो तन देखा अपना मुझ-सा बुरा न कोय ॥

श्रीनारायणस्वामीने ठीक कहा है—

तेरे भावें जो करै भलौ बुरो संसार ।

नारायण तू चैठ कर अपनो भवन बुहार ॥

अपने घरमें झाड़ू लगाओ । गंदी झाड़ू लेकर दूसरेका मकान साफ करने जाओगे तो वहाँ भी गंदगी ही फैलाओगे; सफाई तो कहाँसे करोगे ? अपना हृदय पहले साफ होना चाहिये ।

हृदयकी स्वच्छताकी कसौटी क्या है—मनमें शान्ति, प्रसन्नता, त्याग, वैराग्य, सौम्यता, अहिंसा, सत्य, प्रेम, इन्द्रिय-निग्रह, सरलता, समता, निरभिमानीता, नम्रता, भगवान्‌के प्रति चित्तकी वृत्तिका प्रवाह, संसारमें उपरति तथा दैवी-सम्पत्तिके अन्यान्य सद्गुणोंका होना । वह व्यक्ति भाग्यवान् है, जिसके जीवनमें संसार भगवान्‌के रूपके अतिरिक्त आता नहीं और जरूरत पड़नेपर कठिनतासे लाना पड़ता है । वह देखता है कि जगत् तो है नहीं । गीताका असली मर्म भगवान्‌ने बताया कि जगत् वास्तवमें केवळ भगवान्‌से पूर्ण है—'वासुदेवः सर्वमिति ।' यह जगत् जो दीख रहा है, ऐसा यह प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ऐसा है नहीं ।

सिनेमा देखते समय पर्देपर सारा संसार दिखायी देता है, पर पकड़नेपर हाथमें नहीं आता । इसी प्रकार यह संसार जो दीखता है, वह दीखता भर है—मिलता नहीं—

‘न तथा उपलभ्यते ।’

इसीलिये कि यह मायाका राज्य है । अज्ञानकी कल्पना है । इसमें मनको फँसा लेना मूर्खता है । पढा या बेपढा, जो भी फँसता है, वह मूर्ख ही है । अपठित मूर्खता करता है, परंतु उसमें श्रद्धाके सहज जाग जानेकी सम्भावना है । अतः वह राहपर आ सकता है । किंतु शिक्षित मूर्ख तो प्रायः वज्रमूर्ख होता है । शिक्षितकी मति विगड़नेपर वह असुर हो जाता है ।

‘साक्षराः’ का उलटा ‘राक्षसाः’ होता है। भोगासक्त साक्षरके जीवनमें पैशाचिकताका ताण्डव नृत्य होता रहता है। लाखों नर-नारियोंको एक ही साथ जला देनेवाले बमोंके आविष्कारक विज्ञानवेत्ता विद्वान् ऐसे ही असुर-मानव हैं। पिछले दिनों चीनमें अपने ही मतके एक विपक्षीकी लाशको लोग भूनकर खा गये। यही राक्षसत्व है।

यह निश्चित बात है कि जहाँ पापमें गौरव-बुद्धि होती है—पापकी सराहना होती है, वहाँ पाप बढ़ता है। जिसके पास पैसा आ गया, वह पैसा चाहे चोरीसे आया हो या चूटसे अथवा अनाचार-भ्रष्टाचार-अत्याचार तथा हिंसासे—उस पैसेवालेको यदि समाजके द्वारा ‘बड़ा’ माना जाता है और उसका सम्मान होता है तो दूसरे लोग भी वैसा ही ‘बड़ा’ बनना चाहते हैं। सिनेमाकी अभिनेत्री जो एक साधारण स्तरकी अभिनय करनेवाली, नाचनेवाली स्त्री है, उसको देखनेके लिये भीड़ लग जाती है। इस भीड़में प्रोफेसर भी शामिल होते हैं, अधिकारी भी। यह सब क्या है? चोर-पूजा होनेपर चोरी और अनाचार-पूजा होनेपर अनाचारका ही विस्तार होगा। यह पतनकी सीमा है, तामसी बुद्धिका प्रत्यक्ष परिचय है, जिसमें अनाचारको सदाचार, बुराईको भलाई और पापको पुण्य समझा जाता है।

दूसरेके हकका लेना, दूसरेको अभावग्रस्त बनाकर वस्तुका संग्रह करना पाप है। गीता (३ । १३) में कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

‘यज्ञसे शेष (सबको सबका हिस्सा देकर) बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं; पर जो केवल अपने (भोगके) लिये पकाते (कमाते) हैं वे पाप खाते हैं । सारे जगत्को उसका हिस्सा देकर शेषान्न खानेवालेको अपने यहाँ ‘अमृतांश’ कहा गया है । श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।

अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥

‘जितने धनसे प्राणियोकी उदरपूर्ति हो, उतनेपर उसका अधिकार है । जो इससे अधिकपर अपना स्वत्व मानता है, वह चोर है; उसे दण्ड मिलना चाहिये ।’ ये शब्द लेनिनके या मार्क्सके नहीं या आधुनिक युगके नहीं, प्राचीन भारतके महान् ग्रन्थ भागवतमें देवर्षि नारदके हैं । जिस देशमें अखो ळोग भूखो मरें वहाँ बड़े-बड़े भोज हों, यह पाप है । सबको खानेको, पहननेको और रहनेको मिलना चाहिये । उसके भाग्यमें बदा नहीं है—इसीलिये वह अभावसे ग्रस्त है—यह उसके माननेकी बात है । समाजके माननेकी नहीं, सम्पन्न लोगोके माननेकी नहीं । जो सम्पन्न हैं वे अभावप्रस्तोको दें । अपने लिये कंजूस बनकर दूसरोके लिये उदार बनें । धन किसीके पास रहेगा नहीं । सम्पत्तिका या तो सदुपयोग होगा या वह चली जायगी । सम्पत्तिमान्की सम्पत्ति गरीबोसे ली हुई उधार है—ऐसा मानकर उस ऋणको व्याजसमेत चुकाना प्रत्येक ईमानदार सम्पत्तिमान्का कर्तव्य है ।

सम्पत्ति और जागतिक भोगका चिन्तन करनेसे दुर्गति होगी । अन्तकालमें जैसी मति, वैसी गति होती है । जीभके स्वादवश किसी

खाद्यपदार्थका चिन्तन करते हुए मरनेसे किसी टोकरीका कीड़ा और साड़ीका चिन्तन करते हुए मरनेपर किसी कपड़ेका कीट बनना पड़ेगा । अतः बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है । जगत्के भोगोको ललचायी दृष्टिस न देखे । निरन्तर भगवान् याद रहें ।

भोग भगवान्के महत्त्वको घटाते हैं, अतः जीवनमें भोगोंकी स्मृतिको न आने दें । भक्त श्रीहरिदासजीके पास वेश्या गयी । परंतु श्रीहरिदासजीका व्रत था—तीन लाख नामजपका । न नामजपसे फुरसत मित्री और न वेश्यासे बातचीत हो सकी । भगवान्से और भगवान्के कामसे मनको, वाणीको, चित्तको फुरसत नहीं मिलने दे । जागतिक विषय अपने-आप कम हो जायेंगे । भोगसे जितना ही छूटे और भगवान्में जितना ही लगे, उतना ही मङ्गल है ।

अपने सर्वस्वओ अपने समेत भगवान्के समर्पण कर दे, यही भगवान्की शरणागति है । जो भगवान्के शरणागत होता है, वही मायासे तरता है । भगवदीय प्रकाशके आते मायाका अन्वकार नष्ट हो जाता है । साधकको चाहिये कि अपनेको निरन्तर भोगोसे बचाये रखे तथा भगवान्में लगाये रखे । मन, वाणी और शरीरको सदा भगवान्से सयुक्त रखे । इसीमें साधककी बुद्धिमानी है । साधक भगवान्की कृपापर भरोसा रखे, दिन-रात भगवान्के अनुकूल आचरण करे, पर अपने पुरुषार्थका अभिमान कभी न करे और रात-दिन अपने इस लक्ष्यको याद रखे—जीवनका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है ।

साधनाके दो प्रकार

साधनाएँ दो प्रकारकी होती हैं । एक होती है किसी बाहरी प्रेरणासे की जानेवाली कर्तव्यरूपा और दूसरी होती है अन्तःप्रेरणासे होनेवाली सहज । प्रथम प्रकारकी साधना विवेकपूर्ण होती है, विवेकसापेक्ष होती है और दूसरे प्रकारकी साधना विवेकातीत होती है, विवेक-निरपेक्ष होती है ।

अन्तःप्रेरणासे होनेवाली साधनाके क्षेत्रमें कभी-कभी ऐसी भी स्थिति होती है, जिसमें ऐसी बात नहीं रहती कि साधक अपने किसी कामको या साधनको सोच-विचारकर करे ।

इस स्थितिका दर्शन श्रीचैतन्य महाप्रभुके जीवनमें मिलता है । जब उन्होने घर छोड़ा, उसके पहलेकी बात है । उन्हें श्रीकृष्णकी पुकार सुनायी दी । उन्होने कहा—‘मुझको श्रीकृष्ण पुकार रहे हैं ।’ वे समझदार थे और लोगोने उनको समझाया, पर उनको तो श्रीकृष्णकी पुकार सुनायी देती थी । उन्होंने कहा—‘अब तो श्रीकृष्णकी पुकार-ही-पुकार सुनायी देती है, अब और कुछ नहीं । बस, अब उधर ही जाना है ।’ फिर कोई विचार या विवेक या

और कोई चीज उन्हें रोक नहीं सकी। गृह-त्यागके बाद भी यह पुकार सुनायी दी थी। यही हाल सिद्धार्थका हुआ।

गोपाङ्गनाओंने वंशीध्वनि सुनी और उनकी विचित्र स्थिति हो गयी। उस समयकी उनकी स्थितिके चित्रको देखें। कानोंमें वंशीकी ध्वनि सुनायी पड़ी। वस, उनके पय, संकोच, धैर्य, मर्यादा आदि सबको छीन लिया उसने उसी क्षण। वे उन्मत्त हो गयीं। वह एक ऐसी चीज थी, जिसने स्व चीजोको भुला दिया। वह एक अन्तर्नाद था। उनको यह भी याद नहीं रहा कि जीवनमें क्या करना है? उस समय उनके द्वारा जो व्यावहारिक कार्य हो रहे थे, सारे-के-सारे कार्य ज्यो-के-त्यो स्थगित हो गये। उसका वर्णन करते हुए भागवतकार कहते हैं कि हाथका घास हाथमें ही रह गया; एक आँख आँजनेके बाद दूसरी आँख आँजनेसे रह गयी, शरीरमें अङ्गराग चन्दन लगा रही थी, वह अधूरा ही रह गया, बख पहनना आरम्भ किया, पर जितना जैसे पहना गया, उतना वैसे ही पहना गया; छोटे-छोटे वच्चोंको स्तन पिढाना आघेमें ही छूट गया और पतियोकी सेवा-शुश्रूषा कर रही थी, वह वैसे ही रह गयी। एक-दूसरीसे कुछ कहते भी नहीं बना। सब चल पड़ीं बड़े वेगसे।

यह पुकार, वह ध्वनि कुछ ऐसी आकर्षक थी, कुछ ऐसी अनन्यता लानेवाली थी कि उसने सर्वस्वका सहज त्याग करवा दिया। इस स्थितिमें यह बात नहीं रह जाती कि किसी चीजको विवेकपूर्वक त्याग करना है या वैराग्यसे त्याग करना है अथवा विवेकपूर्वक किसी चीजको प्राप्त करनेके लिये सोच-समझकर जाना

है। साधनाकी यह बहुत ऊँची स्थिति है, जो भगवत्कृपासे ही सुलभ होती है।

दूसरे प्रकारकी साधना विवेकपूर्ण होती है। विवेकपूर्ण साधनामें संसारके भोगोंको दुःखदायी, बन्धनकारक और अज्ञानकी वस्तु मानकर छोड़ा जाता है। भगवत्प्राप्तिका महत्त्व, उसका गौरव, उसके लाभ, परमानन्दकी प्राप्ति, बन्धनोका कट जाना; मोक्षकी उपलब्धि, जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा आदि बातोंसे आकृष्ट, आश्वस्त और आस्थावान् होकर साधक साधनारूढ़ होता है। यह साधना भी बहुत ऊँची चीज है, पर यह साधना सबिवेक है, वैराग्यपूर्ण है।

पर दूसरे प्रकारकी साधना ऐसी एक स्थिति होती है, जहाँ न विवेकका प्रवेश है और न वैराग्यको स्थान है। पर ये दोनों ही बलात् उसके साथ छिपे-छिपे लगे ही रहते हैं। वास्तवमें वहाँ जीवनमें एक स्वाभाविक गति है। एक ऐसी स्वाभाविक गति, जिसमें कोई प्रयास नहीं। सागरोन्मुखी गङ्गाकी धाराकी तरह कोई भी ननिक भी प्रयास नहीं। गङ्गाकी धाराकी सागरकी ओर स्वाभाविक गति है। रास्तेमें आनेवाले बाधा-विघ्न धपने-आप टूटते चले जाते हैं। बड़ी बाधा आनेपर गङ्गाकी धारा उसके बगलसे निकल जाती है, पर वह रुकती नहीं। रुकना चाहिये नहीं, इसीलिये कि गतिमें स्वाभाविकता है। किधरसे बहना चाहिये, कहाँ जाना चाहिये, जानेपर समुद्रसे मिलकर क्या होगा. क्या मिलेगा—इन सब प्रश्नोंको गङ्गाकी धारा नहीं जानती। समुद्रकी ओर उसकी सहज स्वाभाविक गति है। इसी प्रकारकी एक स्थिति साधनामें

होती है। इस स्थितिकी ओर सकेत करनेके लिये गोपाङ्गनाओंका उदाहरण दिया जाता है।

सासारिक लोग उन परमोच्च स्तरपर स्थित गोपियोंके बहुत नीचे उतार लाते हैं और उनकी पावन-पावन प्रेमचेष्टाओंमें सासारिकता देखते हैं। भोगकी कल्पना करते हैं। पर यह भोग-जगत्—यह भौतिक संसार तो बहुत नीचे रह जाता है। ससारके भागके दिव्य लोक जिसे छू नहीं सकते, मोक्षकी संज्ञाका जहाँ अस्तित्व नहीं है। और-तो-और भगवान्को ढूँढनेकी भी जहाँ आवश्यकता नहीं रह जाती, वह गोपाङ्गनाओंका विशुद्धतम प्रेम-जगत् है।

जहाँतक श्रुति-प्रतिपाद्य साधन है, वहाँतक श्रुतियोंका अनुसंधान है। परतु श्रुतियोंके द्वारा भगवान्की प्राप्ति नहीं होती। श्रुतियाँ जिनको खोज रही थीं, पर जिनको श्रुतियोंने नहीं पाया, उन भगवान् मुकुन्दको—श्रीकृष्णको गोपाङ्गनाओंने साक्षात् भजा, प्रत्यक्ष उनका सेवन किया। 'भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।' प्रेमकी साधनामें 'गोभियाँ आदर्श हैं। नारदजी पुकारते हैं—
'यथा ब्रजगोपिकानाम्।'

अन्तःप्रेरणासे होनेवाली इस साधनामें न विवेक है, न वैराग्य है, न विवेकका त्याग है, न वैराग्यका त्याग है। साथ ही, न विवेककी आवश्यकता है और न वैराग्यकी। इस स्थितिकी साधनामें एक स्वाभाविक गति है, उसका एक स्वाभाविक स्वरूप है। यह स्वरूप जब कभी किसीके जीवनमें आता है, वह धन्य है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुके जीवनमें इस तरहकी बात मिलती है । श्रीचैतन्य महाप्रभुका पहले नाम था श्रीनिमाई पण्डित । श्रीनिमाई पण्डित न्यायके प्रकाण्ड पण्डित थे । न्याय चलता ही है तर्कपर, न्यायका अर्थ ही है तर्कद्वारा किसी वस्तुको सिद्ध करना । श्रीनिमाई पण्डित न्यायके इतने बड़े पण्डित थे कि बड़े-बड़े दिग्गज न्याय-शास्त्री शास्त्रार्थमें उनसे पराजित हो चुके थे । भवस्था कम होनेपर भी श्रीनिमाई पण्डित नवद्वीपके सर्वोपरि नैयायिक थे । दूर-दूरसे बड़ी-बड़ी उम्रवाले प्रौढ़ विद्वान् युवक श्रीनिमाई पण्डितके पास पढ़नेके लिये आया करते थे । श्रीनिमाई पण्डितके गुरुजी भी नवद्वीपमें ही थे, पर वे विद्वान् गुरुजीके पास न जाकर श्रीनिमाई पण्डितके पास ही पढ़नेके लिये आया करते थे ।

ऐसे श्रीनिमाई पण्डित गया गये और गयामें भगवान्के श्रीचरणकमलका दर्शन करके वहीं उनका जीवन पलट गया । उनकी साधना बिष्कुल पलट गयी । गयासे लौटकर नवद्वीप आये और पूर्वाभ्यासवशात् पाठशाला गये । पढ़नेके लिये आये हुए विद्यार्थियोंने प्रणाम किया तथा पढ़ानेके लिये प्रार्थना की । श्रीनिमाई पण्डित बोले—

राम राघव राम राघव राम राघव रक्ष माम् ।

कृष्ण केशव कृष्ण केशव कृष्ण केशव पाहि माम् ॥

विद्यार्थियोंने यही समझा कि सम्भवतः यह मङ्गलाचरण है । थोड़ी देर बाद फिर विद्यार्थियोंद्वारा पाठ पढ़ाये जानेकी प्रार्थना किये जानेपर श्रीनिमाई पण्डितने फिर वही दोहरा दिया और कहा—
‘पाठ ही तो दे रहा हूँ ।’ विद्यार्थियोंने जाकर गुरुजी आचार्य

श्रीगंगादासजीसे वस्तुस्थितिका निवेदन कर श्रीनिमाई पण्डितजीको समझानेके लिये प्रार्थना की । गुरुजीने श्रीनिमाई पण्डितको बुलाकर पूछा—‘क्या तुम्हारे द्वारा ऐसा हुआ है ?’ श्रीनिमाई पण्डितने कहा—‘हाँ ।’ गुरुजीने समझाते हुए कहा—‘अब ठीकसे पढाना ।’ श्रीनिमाई पण्डितने कहा—‘हाँ, प्रयत्न करूँगा । पर मैं क्या करूँ, मेरे वशकी बात नहीं है ।’ पर प्रयत्न कैसे हो ? चित्तकी तो दशा ही बदल गयी । यह परिवर्तन अपने आप ही हुआ था, विवेकजनित तो था नहीं ।’ फिर वही कीर्तन चला । वे विद्वान् विद्यार्थीगण लौट आये और फिर बादमें निराश होकर अपने-अपने घर वापस चले गये । श्रीनिमाई पण्डितके कीर्तनमें ऐसी मत्तता होती, वायुमण्डलपर उसका ऐसा प्रभाव होता कि जो भी समीपसे निकलता, वही नाचने लगता । अतः नवद्वीपके पण्डितोंने उस मार्गसे निकलना बंद कर दिया । इतना प्रभाव उस स्वाभाविक कीर्तनका पड़ा ।

ऐसी स्थितिमें भगवान्‌के प्रति सर्वस्व सहज ही समर्पित हो जाता है । ऐसी ही स्थिति थी—ओरछाके श्रीहरिरामजी व्यासकी । श्रीव्यासजी शास्त्रोके प्रकाण्ड पण्डित थे । जहाँ जाते, ग्रन्थोके छक्के साथ-साथ चलते । कोई भी शास्त्रार्थमें उनके सामने टिक् नहीं पाता था । पर जब जीवनमें परिवर्तन आया तो सारा कुछ बदल गया । सारी पोथियाँ छूट गयीं । निर्ग्रन्थ हो गये । सारी ग्रन्थियाँ वस्तुतः छूट गयीं और वृन्दावनमें वास किया । एक बार श्रीओरछा-नरेशजीने श्रीव्यासजीको बुलाया । वे नहीं गये तो उनको बुलानेके लिये अपने

दीवानजीको भेजा । दीवानजीको आया हुआ देखकर श्रीव्यासजीको बड़ी ही वेदना हुई । वृन्दावनसे जाना न पड़े, अतः श्रीव्यासजी एक-एक पेड़ और एक-एक लतासे लिपट-लिपटकर रोने लगे । सबसे कहने लगे—‘देखो भाई ! मुझे छोड़ना मत ।’ उनकी जाने लायक स्थिति नहीं देखकर श्रीदीवानजी यो ही लौट आये ।

यह साधनाकी एक स्थिति है जो अपने-आप होती है । बनानेसे नहीं होती । भगवत्कृपासे ही ऐसी स्थिति जीवनमें अभिव्यक्त होती है । परंतु यह स्थिति भगवत्कृपासे वहाँ व्यक्त होती है, जहाँ भूमिका तैयार रहती है । हर जगह तो व्यक्त होती नहीं । अतः इस भूमिकाके लिये प्रस्तुत होना है ।

यह सदा ध्यानमें रखनेकी बात है कि मनुष्यका जीवन कदापि—कदापि भोगके लिये नहीं है । भोगके लिये मनुष्य-जीवन है—इस सकल्पको मनसे सर्वथा ही उठा देना चाहिये । यह विलकुल भ्रम है और अज्ञान है । पाप है । मानव-जीवन एक बहुत बड़ी निधि है और इसको खो देना बहुत बड़ा अपराध है । यह अपराध भगवान्‌के प्रति है ।

कबहुँक करि करुना नर देही । देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

भगवान्‌की दी हुई परम कृपापूर्ण सुविधाको जो अपने प्रमादसे हटा देते हैं, वे इस कृपा-प्रसादका निरस्कार करते हैं और भगवान्‌के प्रति बड़ा अपराध करते हैं । इसीलिये वे आत्महत्यारे हैं ।

मनुष्य-जीवनका लक्ष्य भोग है, इस भावनाका पूर्णतः परित्याग कर देना चाहिये । भोगके महत्त्वके मनसे निकलते ही बहुत-सी

झंझटें अपने-आप मिट जाती हैं । निन्दा-स्तुति, मान-अपमान— यह सब केवल अपनी मान्यताकी बात है । इसी बखेड़ेमें हमारा सारा जीवन बीत रहा है । देश या जाति या विश्वके नामपर जो भी उधेड़-बुन चळती है, है तो भौतिक जीवनको लेकर ही और भौतिकतामें कभी सफलता मिळती नहीं । प्रकृतिके विस्तारका अन्त नहीं है । भोगकी आकाङ्क्षा चाहे व्यक्तिके लिये हो या समष्टिके लिये हो, यदि किसी जीवनमें है, तो असफलता ही हाथ लगेगी । तृष्णा कभी समाप्त होती नहीं । थोड़ा पानेवालेका थोड़ा बाकी रहता है और ज्यादा पानेवालेका ज्यादा बाकी रहता है ।

भोग-जीवनमें श्वास्था और भोग-जीवनकी लिप्सा ही सारे अनर्थोंकी जड़ है । इसमेंसे हम सभीको निकलना है । जो निकल गया, वह निकल गया । जो निकल नहीं, उसे निश्चित—निश्चित पछताना पड़ेगा । इसमें कोई सदेह नहीं । चाहे किसीकी समझमें आवे या न आवे, समझमें आकर स्वीकार करे या न करे, पर सत्य कभी असत्य हो नहीं सकता । मनुष्य-जीवनको प्राप्त करके जो भगवत्प्राप्तिके प्रयासमें नहीं लगा, उसको अवश्यमेव पछताना पड़ेगा ।

इस अवसरके हाथसे निकल जानेपर क्या वचेगा । अतः जीवनमें मोड़ लाना है । भोगोंकी ओर उन्मुख जीवनको भगवान्की ओर लगाना है । भगवान्के सम्मुख होना है । गति मन्द हो तो कोई बात नहीं । एक ही पग आगे बढ़ पाये तो कोई चिन्ता नहीं, पर भोगोंको पीठ देकर भगवान्की ओर बढ़ना है । भगवान्की ओर

हम मुख करेंगे तो भगवान् हमारी ओर मुख करेंगे । भगवान्की ओर हम चळेंगे तो भगवान् हमारी ओर चळेंगे । परंतु हम चळेंगे अपनी चाल और भगवान् चळेंगे अपनी चाल । भगवान्ने पहुँचनेका संकल्प किया तो उनको पहुँचते क्या देर लगेगी ? भगवान्के संकल्पमें सकल्प, संकल्पानुसार कार्य और कार्यकी सिद्धि—तीनों एक साथ होती हैं । इसीलिये उनका नाम सत्य-संकल्प है । भगवान्की ओर मुख होनेसे भगवान्के मिलनेमें विट्म्ब नहीं होगा ।

भगवान्की ओर सम्मुख होनेकी कसौटी क्या है ? बिल्कुल सीधी बात है । भोग सुहाये नहीं । भोगोंसे विमुख होनेपर वे सुहायेंगे कैसे ? यदि भोग सुहाते हैं तो हम उनके सम्मुख हैं । भोगोंके सम्मुख और भगवान्के विमुख होनेसे सुख और शान्ति नहीं मिल सकती ।

राम विमुक्त सपनेहुँ सुख नहीं ।

वे लोग अभागे हैं जो भगवान्का परित्याग करके विषयोसे अनुराग करते हैं ।

सुनहु उमा ते लोग अभागी । हरि तजि होहि विषय अनुरागी ॥

सौभाग्यशास्त्री कौन है ? जो विषयोंका वमनवत् परित्याग कर देता है और श्रीहरिके चरणकमलोसे अनुराग करता है ।

रमाबिलास राम अनुरागी । तजत वमन इव नर बड़भागी ॥

भोगोंसे विमुक्तता और भगवान्की ओर सम्मुखता, यहीसे मानवकी मानवताका आरम्भ होना है । अतः सभीको भगवत्साधनामें लगना चाहिये । जो लगे हैं, उनकी सहायता करनी चाहिये ।

साधनामें लगे हुए किसीको कभी हतोत्साहित नहीं करना चाहिये; क्योंकि असली काम तो वही कर रहा है। साधनामें हतोत्साहित करना पाप है।

साधक ससारकी परवा नहीं करे। सांसारिक हानि कोई हानि नहीं है। संसारमें होनेवाली हानिकी चिन्ता न करे। सांसारिक हानिकी, लौकिक मान-अपमानकी किसी प्रकारके अभावकी परवा न करे और साधक अपनी साधनामें लगा रहे। जगत्के लोग तिरस्कार कर सकते हैं। जगत्के लोग उसी साधुका अधिक आदर करते हैं, जिसके आशीर्वादसे और अधिक भोगोंके प्राप्त होनेकी सम्भावना हो। वैराग्यके नामपर विरक्त भगवत्प्रेमी साधु-सतोका आदर करनेवाले लोग बहुत थोड़े होते हैं। जगत्के भय और प्रलोभनोंसे अत्यन्त उपरत होकर सतत साधना करता रहे। भगवान्की अखण्ड स्मृति बनी रहे। सर्वोत्तम यही है कि जगत्की स्मृति हो ही नहीं। इस विवेकपूर्ण साधनामें सतत संलग्न रहनेसे ही उस भूमिका निर्माण होता है, जहाँ भगवत्कृपासे उस दिव्य साधनस्थिति की अभिव्यक्ति होती है, जो विवेकातीत है और पूर्णतः निरपेक्ष है। जिस स्थितिके प्राप्त होनेपर जीवन धन्य हो जाता है, कुछ पवित्र होता है, जननी कृतार्थ होती है और धरती धन्य होती है तथा वह इतना पवित्र हो जाता है कि उसके जीवनमें पवित्रताकी धारा बह निकलती है जो जगत्के पाप-तापग्रस्त प्राणियोंको शीतल-शान्तिका पान कराकर धन्य करती है।

मनुष्य-जीवनका परम कर्तव्य

महात्मा श्रीचरणदासजीने एक जगह लिखा है—एक नगर था । उस नगरमें ऐसी प्रथा थी कि एक वर्ष पूरा हो जानेपर उस नगरके राजाको गद्दीसे उतार दिया जाता था और नये राजाको बैठाया जाता था । पुराने राजाको नावमें बैठाकर नदीपार भीषण वनमें अकेला छोड़ दिया जाता था । प्रतिवर्ष इस प्रकार होता था । यों कई मनुष्य राजा बने और वर्ष पूरा हो जानेपर जंगलमें जाकर दुःख भोगने लगे । एक वर्षतक राज्य-सुख-भोगमें वे इतने आसक्त रहते थे कि उन्हें एक वर्ष बाद क्या स्थिति होगी, इसकी याद ही नहीं रहती थी ।

एक बार इसी नियमानुसार एक मनुष्यको राजगद्दी मिली । वह बहुत बुद्धिमान् था । उसने गद्दीपर बैठते ही पूछा—‘यह कितने दिनोंके लिये है ?’ कर्मचारियोंने बताया—‘एक वर्षके लिये है ।’ उसने पूछा—‘फिर क्या होगा ?’ उसको बताया गया कि ‘एक वर्ष पूरा होनेके बाद आपसे यह राज्यसत्ता छीन ली जायगी;

आपकी सारी सम्पत्ति यहाँतक कि वल्ल भी उतार लिये जायेंगे । केवल एक धोती पहने आपको नदीके उस पार बीहड़ वनमें अकेले जाना पड़ेगा । नाववाले आपको वहाँ उतारकर लौट आयेंगे । यही यहाँकी सनातन प्रथा है ।' यह सुनकर उसने सोचा कि 'एक वर्ष तो बहुत है । इतने समयमें तो सब कुछ किया जा सकता है ।' उसने राज्यका भार हाथमें लिया और सावधानी तथा ईमानदारीसे न्यायपूर्वक वह प्रजापालन करने लगा, पर एक वर्षकी अवधिको नहीं भूला । उसने अपने व्यक्तिगत सुखोकी कुछ भी परवा नहीं की । नाच-मुजरे, अभिनन्दन-सम्मान, मौज-शौक, खेल-तमाशे आदि व्यर्थके कार्य सब बंद कर दिये और यह आदेश दे दिया कि 'नदीपारका जंगल काटकर वहाँ बस्ती बसायी जाय । नगर बने । प्रचुर मात्रामें साधन-सामग्री तथा काम करनेवाले योग्य पुरुष वहाँ भेज दिये जायँ । वर्ष पूरा होनेके पहले पहले वहाँ सब व्यवस्था ठीक हो जाय ।'

इस प्रकार आदेश देकर वह अपना काम सम्हालने लगा । राज्य-सुख भोगनेमें उसने अपना समय नष्ट नहीं किया । किंतु एक वर्ष बाद उसे दुःख भोगना न पड़े और सब सुख-सुविधा बनी रहे, इसके लिये वह प्रयत्न करता रहा । एक वर्षकी अवधिमें वहाँ जंगलकी जगह एक छोटा-सा सुन्दर देश बस गया । सब सामग्रियाँ वहाँ सुलभ हो गयीं । एक वर्ष पूरा हो जानेके बाद उसको गद्दीपरसे उतार दिया गया । वह तो हँस रहा था । उसको किसी बातकी चिन्ता न थी । वह जब नावमें चढ़कर हँसता हुआ नदीपार जाने लगा,

तब नाविकोंने पूछा— और वर्ष तो जो लोग जाते थे, सभी रोते थे; आप कैसे हँस रहे हैं ?' उसने कहा—'भाई ! वे लोग एक वर्षतक राज्य सुख भोगते रहे, मौज-मजे करते रहे, विषयानन्दमें निमग्न रहे । उन्होंने भविष्यका विचार नहीं किया । इसीसे वे रोते गये । परंतु मैं सावधान था । मैं बराबर विचार करता रहा कि एक वर्षके बाद तो यह राज्य तथा यहाँका सब कुछ छोड़कर जाना पड़ेगा । इसलिये मैंने सारे व्यर्थ कार्य रोक दिये, सारे व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद बंद कर दिये और एक वर्षके बादकी स्थिति सँभालनेके लिये प्रयत्न करता रहा । अब मुझे कोई चिन्ता नहीं है, क्योंकि एक वर्षकी राज्यसत्ताका मैंने पूरा लाभ उठा लिया है । इसीलिये मैं हँस रहा हूँ ।'

यह एक दृष्टान्त है । सिद्धान्तमें यह समझना चाहिये कि हमको यह देव-दुर्लभ मानवशरीर एक नियत समयके लिये ही मिला है । नियत समय पूरा होनेपर यह हमसे छीन लिया जायगा और इसके सारे साज-सामान भी यहीं छूट जायँगे । जबतक जीवनका यह नियत काल पूरा न हो जाय, तभीतक मानव-जीवनका पूरा लाभ उठा लेना चाहिये । भगवान्का सतत स्मरण करना चाहिये और संसारके प्राणी-पदार्थोंमें मोह न रखकर, यहाँके भोगोसे विरक्त और उपरत रहकर, पवित्र निष्पाप जीवन बिताते हुए इन्द्रिय-संयमपूर्वक सबमें भगवद्भाव रखकर सबकी सेवा करनी चाहिये, जिससे दुःख न उठाना पड़े । जीवन क्षणभङ्गुर है । पता नहीं, कब मृत्यु आ जाय ।

एक भ्रमर सायंकालके समय एक कमलपर बैठकर उसका रस पी रहा था । इतनेमें सूर्यास्त होनेको था गया । सूर्यास्त होनेपर कमल सकुचित हो जाता है । अतः कमल बंद होने लगा, पर रसलोभी मधुप विचार करने लगा—अभी क्या जल्दी है, रातभर आनन्दसे रसपान करते रहें—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
 भाखानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
 इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
 हा हन्त ! हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार ॥

‘रात बीतेगी । सुन्दर प्रभात होगा । सूर्यदेव उदित होंगे । उनकी किरणोंसे कमल पुनः खिल उठेगा, तब मैं बाहर निकल जाऊँगा ।’ वह भ्रमर इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि हाय ! एक जंगली हाथीने आकर कमलको डंडीसमेत उखाड़कर दाँतोंमें दबाकर पीस डाला । यों उस कमलके साथ भ्रमर भी हाथीका प्रास बन गया । इस प्रकार पता नहीं, कालरूपी हाथी कब हमारा प्रास कर जाय । मृत्यु आनेपर एक श्वास भी अधिक नहीं मिलेगा । मृत्युकाल आनेपर एक क्षणके लिये भी कोई जीवित नहीं रह सकता । उस समय कोई कहे कि ‘मैंने वसीयतनामा (Will) बनाया है । कागज (Document) तैयार है । केवल हस्ताक्षर करने बाकी हैं । एक श्वास अधिक मिल जाय तो मैं सही कर दूँ ।’ पर काल यह सब नहीं सुनता । बाध्य होकर मरना ही पड़ता है । यह है हमारे जीवनकी स्थिति । अतएव मानव-

जीवनकी सफलताके लिये संसारके पदार्थोंसे ममता उठाकर भगवान्में ममता करनी चाहिये । तुलसीदासजी कहते हैं—

तुलसी ममता राम सों समता सब संसार ।

राग न रोष न दोष दुख दास भये भव पार ॥

हम प्राणी-पदार्थोंमें ममता बढ़ाते हैं, पर यह ममता स्वार्थमूलक है । स्वार्थमें जरा-सा धक्का लगते ही यह ममता टूट जाती है, इसीलिये भगवान् कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद् परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी विभीषणसे कहते हैं—‘माता, पिता, भाई, स्त्री, शरीर, धन, सुहृद्, मकान, परिवार—सबकी ममताके धागोको सब जगहसे बटोर लो । ममताको धागा इसलिये कहा गया है कि उसे टूटते देर नहीं लगती । फिर उन सबकी एक मजबूत डोरी बट लो । उस डोरीसे अपने मनको मेरे चरणोंसे बाँध दो । अर्थात् मेरे चरण ही तुम्हारे रहें, और कुछ भी तुम्हारा न हो । सारी ममता मेरे चरणोंमें ही आकर केन्द्रित हो जाय । ऐसा करनेसे क्या होगा ? देखो—

अस सज्जन मम उर बस कैसें । लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें ॥

ऐसे सत्पुरुष मेरे हृदयमें वैसे ही बसते हैं, जैसे लोभीके हृदयमें धन । अर्थात् लोभीके धनकी तरह मैं उन्हें अपने हृदयमें रखता हूँ । अतः संसारके प्राणी-पदार्थोंसे ममता हटाकर एकमात्र भगवान्में ममता करनी चाहिये ।

भगवान् और भोगमें बड़ा भारी अन्तर है। उनके स्वरूप, सावन और फलके बारेमें मैं आपको सात बातें बताता हूँ—

१—भगवान्की प्राप्ति इच्छासे होती है। इसमें कर्मकी अपेक्षा नहीं, अतः यह सहज है।

भोगोंकी प्राप्तिमें कर्मकी अपेक्षा है। प्रारब्धकर्मके बिना, चाहे जितनी प्रबल इच्छा की जाय, भोग नहीं मिलते।

२—भगवान् एक बार प्राप्त हो जानेपर कभी बिछुड़ते नहीं। भोग बिना बिछुड़े रहते नहीं। उनका वियोग अवश्यम्भावी है, चाहे भोगोंको छोड़कर हम मर जायँ।

३—भगवान्की प्राप्ति जब होती है; पूरी ही होती है; क्योंकि भगवान् नित्यपूर्ण हैं।

भोगोंकी प्राप्ति सदा अधूरी होती है; क्योंकि भोग कभी पूर्ण हैं ही नहीं।

४—भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छा होते ही पापोंका नाश होने लगता है।

भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा होते ही पाप होने लगते हैं।

५—भगवान्को प्राप्त करनेकी साधनामें ही शान्ति मिलती है। भोगोंको प्राप्त करनेकी साधनामें अशान्ति बढ़ जाती है।

६—भगवान्का स्मरण करते हुए मरनेवाला सुख-शान्तिपूर्वक मरता है।

५/ भोगोंमें मन रखते हुए मरनेवाला अशान्ति और दुःखपूर्वक मरता है ।

७—भगवान्को स्मरण करके मरनेवाला निश्चय ही भगवान्को प्राप्त होता है ।

मोगोंमें मन रखकर मरनेवाला निश्चय ही नरकोंमें जाता है ।

इन सात भेदोंको समझकर मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर भगवान्का भजन ही करे । भगवान्का भजन नित्य, अखण्ड और पूर्ण शान्ति देनेवाला है । सदा-सर्वदा भगवान्का स्मरण बना रहे, इसलिये समस्त कार्य भगवत्सेवाके भावसे करने चाहिये तथा सब भूत-प्राणियोंमें भगवद्भाव करना चाहिये और सबको मन-ही-मन प्रणाम करना चाहिये । यह बहुत ही श्रेष्ठ साधन है । जिससे भी हमारा व्यवहार पड़े, उसीमें भगवद्भाव करे । न्यायाधीश समझे कि अपराधीके रूपमें भगवान् ही मेरे सामने खड़े हैं । उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करे और उनसे मन-ही-मन कहे कि 'इस समय आपका खाँग अपराधीका है और मेरा न्यायाधीशका । आपके आदेशके पाळनार्थ मैं न्याय करूँगा और न्यायानुसार आवश्यक होनेपर दण्ड भी दूँगा । पर प्रभो ! न्याय करते समय भी मैं यह न भूलूँ कि इस रूपमें आप ही मेरे सामने हैं और आपके प्रीत्यर्थ ही मैं आपकी सेवाके लिये अपने खाँगके अनुसार कार्य कर रहा हूँ ।' इसी प्रकार एक भंगिन-माता सामने आ जाय तो उसको भगवान् समझकर मन-ही-मन प्रणाम करे, और खाँगके अनुसार

बर्ताव करे । यों ही वकील मक्किलको, दूकानदार ग्राहकको, डॉक्टर रोगीको, नौकर मालिकको, पत्नी पतिको, पुत्र पिताको और इसी प्रकार अपराधी न्यायाधीशको, भंगिन उच्चवर्णके लोगोको, मक्किल वकीलको, ग्राहक दूकानदारको, रोगी डाक्टरको, मालिक नौकरको, पति पत्नीको, पिता पुत्रको भगवान् समझकर व्यवहार करे । बर्ताव करे स्वर्गके अनुसार, पर मनमें भगवद्भाव रखे तो बर्तावके सारे दोष अपने-आप नष्ट हो जायेंगे । अपने-आप सच्ची सेवा बनेगी । भगवान्की नित्य-स्मृति बनी रहेगी । यों मनुष्य दिनभर अपने प्रत्येक कार्यके द्वारा भगवान्की पूजा कर सकेगा । भगवान्ने कहा है—‘स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।’—अपने कर्मके द्वारा भगवान्को पूजकर मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त करता है । अतएव मानव-जीवनका परम कर्तव्य समझकर सभीको भगवत्स्मरण तथा भगवत्सेवामें जीवन बिताना चाहिये ।

जूनागढ़ पवित्र तीर्थभूमि है; क्योंकि यहाँ भगवान्के परमभक्त श्रीनृसिंह मेहता निवास करते थे । यहाँपर सिद्धोंका निवास-स्थान परम पवित्र गिरनार पर्वत है । ऐसी पवित्र तीर्थभूमिको शतशः प्रणाम और इस भूमिके समस्त निवासियोंको भी प्रणाम । अन्तमें मैं आप सबको प्रणाम करके करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि आप सब लोग मुझे ऐसा आशीर्वाद दें कि भगवान्के पवित्र तथा निष्काम मधुर स्मरणमें मेरा चित्त सदा लगा रहे ।



साधकका स्वरूप

चार प्रकारके मनुष्य होते हैं— १. पामर, २. विषयी, ३. साधक या मुमुक्षु और ४ सिद्ध या मुक्त । इनमें पामर तो निरन्तर पाप-कर्ममें ही लगा रहता है, विषयोमें अत्यन्त आसक्ति होनेके कारण उनकी प्राप्तिके लिये वह सदा-सर्वदा बुरी-बुरी बातोंको सोचता और बुरे-बुरे आचरण करता रहता है । उसकी बुद्धि सर्वथा मोहाच्छन्न रहती है तथा वह पुण्यमें पाप एवं पापमें पुण्य देखता हुआ निरन्तर पतनकी ओर अग्रसर होता रहता है । अतएव उसकी बात छोड़िये । इसी प्रकार सिद्ध या मुक्त पुरुष भी सर्वथा आलोचनाके ग्रे है । उसकी अनुभूतिको वही जानता है । उसकी स्थितिका वाणीसे वर्णन नहीं

किया जा सकता तथापि हमारे समझनेके लिये शास्त्रोंने उसका सांकेतिक लक्षण 'समता' बतलाया है। वह मान-अपमानमें, स्तुति-निन्दामें, सुख-दुःखमें, लाभ-हानिमें सम है। उसके लिये विपर्योका त्याग और ग्रहण समान है, शत्रु-मित्र उसके लिये एक-से हैं। वह द्वन्द्वरहित एकरस स्वसंवेद्य स्वरूप-स्थितिमें विराजित है। किसी भी प्रकारकी कोई भी परिस्थिति, कोई भी परिवर्तन उसकी स्वरूपावस्थामें विकार पैदा नहीं कर सकते।

अब रहे विषयी और साधक। सो इन दोनोंके कर्म दो प्रकारके होते हैं। दोनोंके दो पथ होते हैं। विषयी जिस मार्गसे चलता है, साधकका मार्ग ठीक उसके विपरीत होता है। विषयी पुरुषको कर्मकी प्रेरणा मिलती है—वासना, कामनासे और उसके कर्मका लक्ष्य होता है भोग। वह कामना-वासनाके वशवर्ती होकर, कामनाके द्वारा विवेकभ्रष्ट होकर कामनाके दुरन्त प्रवाहमें वहता हुआ विषयासक्त चित्तसे भोगोकी प्राप्तिके लिये अनवरत कर्म करता है। साधकको कर्मकी प्रेरणा मिलती है—भगवान्की आज्ञासे और उसके कर्मका लक्ष्य होता है भगवान्की प्रीति। वह भगवान्की आज्ञासे प्रेरणा प्राप्त कर, विवेककी पूर्ण जागृतिमें भगवान्की आज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे भगवान्में आसक्त होकर भगवान्की प्रीतिके लिये कर्म करता है। यही उनका मौलिक भेद है। विषयी मान चाहता है, साधक मानका त्याग चाहता है; विषयी निरन्तर बड़ाईका भूखा रहता है, उसे बड़ाई बड़ी प्रिय मालूम होती है, पर साधक बड़ाई-प्रशंसाको

महान् हानिकर मानकर उससे दूर रहना चाहता है । वह प्रतिष्ठाको 'शूकरी-विष्ठा'के समान त्याज्य और घृणित मानता है । विषयीको विलास-वस्तुओंसे सजे-सजाये महलोंमें सुख मिलता है तो साधकको घास-फूसकी कुट्टियामें आरामका अनुभव होता है । विषयी बहुत बढिया फैशनके कपडे पहनता है तो साधकको उन कपड़ोसे शर्म आती है और वह सादे साधारण वस्त्रका व्यवहार करता है । विषयी इत्र-फुलेल लगाता है तो साधकको उनमें दुर्गन्ध आती है । इस प्रकार विषयी पुरुष संसारका प्रत्येक सुख चाहता है, साधक उस सुखको फँसानेवाली चीज मानकर—दुःख मानकर उससे बचना चाहता है ।

साधकमें सिद्धपुरुषकी-सी समता नहीं होती और जबतक वह सिद्धावस्थामें नहीं पहुँच जाता, तबतक समता उसके लिये आवश्यक भी नहीं है । उसमें विषमता होनी चाहिये और वह होनी चाहिये विषयी पुरुषसे सर्वथा विपरीत । उसे सासारिक भोग वस्तुओंमें वितृष्णा होनी चाहिये । सांसारिक सुखोंमें दुःखकी भावना होनी चाहिये और दुःखोंमें सुखकी । सासारिक लाभमें हानिकी भावना होनी चाहिये और हानिमें लाभकी । सासारिक ममताके पदार्थोंकी वृद्धिमें अधिकाधिक बन्धनकी भावना होनी चाहिये और ममताके पदार्थोंकी कमीमें अधिकाधिक बन्धन-मुक्तिकी जगत्में उसका सम्मान करनेवाले, पूजा-प्रतिष्ठा करनेवाले, कीर्ति, प्रशंसा और स्तुति करनेवाले लोग बढ़ें तो उसे हार्दिक प्रतिकूळताका बोध होना

चाहिये और इनके एकदम न रहनेपर तथा निन्दनीय कर्म सर्वथा न करनेपर भी अपमान, अप्रतिष्ठा और निन्दाके प्राप्त होनेपर अनुकूलताका अनुभव होना चाहिये । जो लोग साधक तो बनना चाहते हैं पर चलते हैं विषयी पुरुषोंके मार्गपर तथा अपनेको सिद्ध मानकर अथवा बतलाकर समताकी बातें करते हैं, वे तो अपनेको और संसारको धोखा ही देते हैं । निष्काम कर्मयोगकी, तत्त्वज्ञानकी या दिव्य भगवत्प्रेमकी ऊँची-ऊँची बातें भले ही कोई कर ले । जबतक मनमें विषयासक्ति और भोग-कामना है, जबतक विषयी पुरुषोंकी भाँति भोग-पदार्थोंमें अनुकूलता-प्रतिकूलता है तथा राग-द्वेष है, तबतक वह साधककी श्रेणीमें ही नहीं पहुँच पाया है, सिद्ध या मुक्तकी बात तो बहुत दूर है । मनमें कामना रहते केवल बातोंसे कोई निष्काम कैसे होगा ? और मनमें भोगसुखमें विश्वास रहते कोई उनकी कामना कैसे नहीं करेगा ? मनमें मोह रहते कोई तत्त्वज्ञानी कैसे होगा और मनमें विषयानुराग रहते कोई भगवत्प्रेमी कैसे बन सकेगा ? अतएव साधकको विषयीसे विपरीत मार्गमें अनुकूलता दिखायी देनेवाली मनोवृत्तिका निर्माण करना होगा । इसीलिये भगवान्ने 'बार-बार विषयोंमें दुःख-दोष देखने'की आज्ञा दी है—'दुःखदोषानुदर्शनम् ।' संसारकी प्रत्येक अनुकूल कहानेवाली वस्तुमें, भोगमें और परिस्थितिमें साधकको सदा-सर्वदा दुःख-बोध होना चाहिये । दुःखका बोध न होगा तो सुखका बोध होगा । सुखका बोध होगा तो उनकी स्पृहा बनी रहेगी । मन उनमें लगा ही रहेगा । इस प्रकार संसारके भोगादिमें सुखका बोध

भी हो, उनमें मन भी रमण करता रहे तथा उनको प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा भी बनी रहे और वह भगवान्को भी प्राप्त करना चाहे—यह बात बनती नहीं—

जहाँ काम तहाँ राम नहीं, जहाँ राम नहीं काम ।
तुलसी कबहुँक रहि सकै, रवि रजनी इक ठाम ॥

जैसे सूर्य और रात्रि—दोनों एक साथ एक स्थानमें नहीं रह सकते, इसी प्रकार 'राम' और 'काम'—'भगवान्' और 'भोग' एक साथ एक हृदयदेशमें नहीं रह सकते । इसलिये साधकको चाहिये कि भोगोंको दुःख-दोष-पूर्ण देखकर उनसे मनको हटावे । उसे यदि भोगोंके त्यागका या भोगोंके अभावका अवसर मिले तो उसमें वह अपना सौभाग्य समझे । वस्तुतः भोगमें सुख है ही नहीं, सुख तो एकमात्र परमानन्दस्वरूप श्रीभगवान्में है । विषय-सुख तो मीठा विष है जो एक बार सेवन करते समय मधुर प्रतीत होता है पर जिसका परिणाम विषके समान होता है । भगवान्ने कहा है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तरसुखं राजसं स्मृतम् ॥
(गीता १८ । ३८)

इसलिये बुद्धिमान् साधक इन दुःखयोनि संस्पर्शज भोगोंसे कभी प्रीति नहीं करते, वे अपना सारा जीवन बड़ी सावधानीसे भगवान्के भजनमें बिताते हैं । देवर्षि नारदजी कहते हैं—

विहाय कृष्णसेवां च पीयूपादधिकां प्रियाम् ।
को मूढो विषमश्नाति विषमं विषयाभिधम् ॥

स्वप्नवन्नश्वरं तुच्छमसत्यं मृत्युकारणम् ।
 यथा दीपशिखाग्रं च कीटानां सुमनोहरम् ॥
 यथा वडिशमांसं च मत्स्यापातसुखप्रदम् ।
 तथा विषयिणां तात विषयं मृत्युकारणम् ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण ब्रह्म० ८ । ३६-३८)

ऐसा कौन मूढ़ होगा जो अमृतसे भी अधिक प्रिय—सुखमय श्रीकृष्ण-सेवा (भजन) को छोड़कर विषम विषयरूप विषका पान करना चाहेगा ? जैसे कीट-पतंगोंकी दृष्टिमें दीपककी ज्योति बड़ी मनोहर मालूम होती है और बंसीमें परोया हुआ मांसका टुकड़ा मच्छलीको सुखप्रद जान पड़ता है, वैसे ही विषयासक्त लोगोंको स्वप्नके सदृश असार, विनाशी, तुच्छ, असत् और मृत्युका कारण होनेपर भी, 'विषयोमें सुख है'—ऐसी भ्रान्ति हो रही है ।

साधक इस भ्रान्तिके जालको काटकर इससे बाहर निकल जाता है, अतएव जब उसके विषय-सुखका हरण या धभाव होता है, तब वह भगवान्की महती कृपाका अनुभव करता है । वास्तवमें है भी यही बात । मान लीजिये, एक दीपक जल रहा है, दीपककी लौ बड़ी सुन्दर और मनोहर प्रतीत होती है, उस लौकी ओर आकर्षित होकर हजारों पतंगे उड़-उड़कर जा रहे हैं और उसमें पड़कर अपने-को भस्म कर रहे हैं । इस स्थितिमें यदि कोई सज्जन उस दीपकको बुझा दे या दीपक और पतंगोंके बीचमें लंबा पर्दा लगा दे, पतंगोंको उधर जानेसे रोक दे तो बताइये, इसमें उन पतंगोंका उपकार हुआ या अपकार ? और इस प्रकार पतंगोंको जल मरनेसे बचानेवाला वह

मनुष्य उनका उपकारी हुआ या अपकारी : बुद्धिमान् मनुष्य यही कहेगा कि उसने बड़ा उपकार किया जो पतंगोंको जलनेसे बचा लिया ।

इसी प्रकार यदि सहज सुहृद् भगवान् दया करके हमें भोगके भीषण दावानलसे बचानेके लिये भोगवस्तुओंका अभाव कर देते हैं, उनसे हमारा बिछोह करा देते हैं तो वे हमपर बड़ा उपकार करते हैं । कीचड़में आकण्ठ धँसे हुए किसी प्राणीको यदि कोई उससे खींचकर निकाल लेता है तो वह बहुत ही अनुग्रह करता है । भगवान्ने बलिके साम्राज्य-वैभवका हरण कर लेनेके बाद ब्रह्माजीसे स्वयं कहा है—

ब्रह्मान् यमनुष्टुभामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।

यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चाचमन्यते ॥

(श्रीमन्द्वा० ८ । २२ । २४)

‘ब्रह्माजी ! धनके मदसे मतवाला होकर मनुष्य मेरा (भगवान्का) और लोगोंका तिरस्कार करने लगता है (इससे वह परमार्थके मार्गसे वञ्चित हो जाता है, अतः उसका कल्याण करनेके लिये) उसपर अनुग्रह करके मैं उसका धन (विषय-वैभव) हर लिया करता हूँ ।’

उसपर तो मेरी बड़ी ही कृपा समझनी चाहिये कि जो मनुष्य-योनिमें जन्म लेकर कुलीनता, कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, ऐश्वर्य और धनादि विषयोंको पाकर उनका घमड नहीं करता—

जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः ।

यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥

(श्रीमद्भा० ८ । २२ । २६)

आगे चलकर भगवान्ने इसी सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करते हुए यहाँतक कह दिया कि—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।

ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥

स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया ।

मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥

तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।

(श्रीमद्भा० १० । ८८ । ८-१०)

‘जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका सारा धन धीरे-धीरे हर लेता हूँ । जब वह धनहीन हो जाता है, तब उसके घरके लोग उसके दुःखाकुल चित्तकी परवाना उसके उसे त्याग देते हैं । वह (यदि) फिर धनके लिये उद्योग करता है तो (उसके परम कल्याणके लिये मैं कृपा करके) उसके प्रत्येक प्रयत्नको असफल करता रहता हूँ । इस प्रकार बार-बार असफल होनेके कारण जब उसका मन धनसे विरक्त हो जाता है, उसे दुःख समझकर वह उधरसे अपना मन हटा लेता है, तब वह मेरे प्रेमी भक्तोंका आश्रय लेकर उनसे मैत्री करता है और तब मैं उसपर अहैतुक अनुग्रह करता हूँ । मेरी उस कृपासे उसे उस परम सूक्ष्म अनन्त सच्चिदानन्दधन परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है ।’

साधकके तो जीवनका लक्ष्य ही परमात्माकी प्राप्ति है, अतः वह इस अवस्थामें भगवान्के अनुग्रहका प्रत्यक्ष अनुभव करके सहज ही प्रसन्न होता है। वह समझता है भगवान्ने बड़ी कृपा करके मुझको कीचड़से—दलदलसे, नरककुण्डसे निकाल लिया। भयानक विषपानसे बचा लिया। वह विषयोंके अभावमें सचमुच एक विलक्षण आश्चस्तिका, शान्तिका, भारमुक्तिका अनुभव करता है। यह सत्य है कि जिसको संसारमें जितनी सुख-सुविधा अधिक मिलती है, वह उतना ही अधिक रागसम्पन्न होकर संसारपाशमें बँधता है। इस दृष्टिसे जिसके पास ममत्वकी वस्तुएं—मकान, जमीन, धन आदि अधिक हैं, जिसके आत्मीय-स्वजन, वन्धु-ब्रान्धव, इष्ट-मित्र, अनुयायी अनुगामी, शिष्य-प्रशिष्य जितने अधिक हैं, उतनी ही उसकी विषयोमें आसक्ति अधिक है और वह उतना ही दुःखका, नरकयन्त्रणाके भोगका अधिक अधिकारी होगा। उसका नरकोंमें जाना और वहाँके भीषण कष्टोंको भोगना उतना ही सहज होगा; क्योंकि जहाँ विषयासक्ति बढी होती है, वहाँ विवेक नहीं रहता। विवेकका नाश होते ही पापबुद्धि हो जाती है और पापका फल नरकभोग या संताप अनिवार्य है। गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है कि जो लोग कामोपभोगको ही जीवनका एकमात्र ध्येय मानते हैं, आशाओकी सैकड़ो फॉसियोंसे बँधे हुए काम-क्रोधपरायण होकर कामोपभोगकी पूर्तिके लिये अन्यायपूर्वक अर्थसंग्रहका प्रयत्न करते रहते हैं। जो कहते हैं कि आज हमने यह कमाया, हमारे और सब मनोरथ पूरे होंगे। हमारे पास इतना धन हो गया, और भी होगा। हमने उस शत्रुको मार दिया, दूसरोंका भी काम

तमाम कर देंगे । हम ही ईश्वर हैं, हम भोगी हैं, हम सफल-जीवन हैं, हम वल्लवान् और सुखी हैं, हम बड़े धनी और जनताके नेता हैं । हमारे समान दूसरा है ही कौन ? हम यज्ञ करेंगे, हम दान देंगे, हम आनन्दसागरमें हिलोरें लेंगे । इस प्रकार अज्ञानविमोहित, अनेकचित्तविभ्रान्त और मोह-जालसमावृत, कामोपभोगमें अत्यन्त आसक्त मनुष्य महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं—

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

(गीता १६ । १६)

ऐसे लोग चाहे अपनेको कितना ही सुखी और समृद्ध माने, चाहे इनको कितनी ही सुख-सुविधा और मान-सम्मान प्राप्त हो, चाहे इनके कितने ही अनुयायी, शिष्य, अनुगामी, सहयोगी, सखा, मित्र, वान्धव हों, कितना ही ऊँचा इनको अधिकार या पद प्राप्त हो, कितने ही अधिक आरामसे विशाल सुसज्जित भवनोंमें इनका निवास हो, चाहे इनके सुख-ऐश्वर्यको देख-देखकर लाखों-करोड़ों लोग ललचाते हों, परतु जिनकी मनोवृत्ति उपर्युक्त प्रकारकी है— उनका यह सारा सुख-वैभव उस दुःखपूर्ण विशद ग्रन्थकी भूमिका है, जो उनके लिये निर्माण हो रहा है या वह उस दुःख-यातनापूर्ण विशाल भवन—नरकालयकी नींव है जो उनके लिये बन रहा है । इसलिये साधकको बड़ी सावधानीके साथ इस भोगसुखाश्रयी आसुरी मनोवृत्तिसे बचना चाहिये और संसारके इस भोग-सुख-वैभवके अभावमें सौभाग्यका अनुभव करना चाहिये । परमबुद्धिमती कुन्तीदेवीने भगवान्से वरदान माँगा था—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥

(श्रीमद्भा० १ । ८ । २५)

‘जगद्गुरो ! हमारे जीवनमें सदा पद-पदपर विपत्तियाँ ही आती रहें, क्योंकि विपत्तियोंमें निश्चितरूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन हो जानेपर फिर अपुनर्भव (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है । फिर जन्म-मृत्युके चक्रमें नहीं आना पड़ता ।’

कुन्ती इस बातको जानती थी कि भगवान् ‘अकिञ्चन’ (निर्धन) प्रिय हैं, ‘अकिञ्चन’ (निर्धन) के धन है और ‘अकिञ्चन’को ही प्राप्त होते हैं । इसीलिये उन्होंने अपनी स्तुतिमें ‘अकिञ्चनवित्ताय’, ‘अकिञ्चनगोचरम्’ कहकर उनका गुणगान किया है ।

सुखके माथे सिल पडो जो नाम हृदयसे जाय ।

बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल राम रटाय ॥

इसीलिये साधक भोगमुखमें परम हानिका प्रत्यक्ष करके भोगोंके अभावरूप दुःखका इच्छापूर्वक वरण करता है । पर याद रखना चाहिये कि भोगोंके स्वरूपतः त्यागसे ही इस भावकी पूर्णता नहीं होती । असलमें तो मनसे भोगोंका त्याग होना चाहिये । भोगोंमें मलिन-बुद्धि, दुःख-बुद्धि, दोष-बुद्धि, वमन-बुद्धि, मल-बुद्धि या विष-बुद्धि होनी चाहिये । अपने टाट पहन ली, पर यदि रेशमी वस्त्र पहननेवालोंके प्रति आकर्षण रहा, अपने झोंपड़ीमें रहते हैं पर यदि महलोंमें रहनेवालोंका सौभाग्य मनपर प्रभाव डालता है, अपने रूखा-सूखा खाते हैं पर यदि मेवा-मिष्ठानोपर मन चलता है, अपने सादगीसे रहते हैं पर यदि बिलासी जीवनको देखकर उसके

सुखी और सौभाग्यवान् होनेकी कल्पना होती है; चाहे कोई दुःख प्रकट न करे, पर जबतक मनकी यह स्थिति है, तबतक भोगोंके अभावमें प्रतिकूलता बनी ही है। भोगोंका गौरव तथा महत्त्व मनमें वर्तमान है ही। साधकके लिये मनकी यह स्थिति बड़ी विघ्नकारक है। उसकी साधनामें यह एक महान् प्रतिबन्धक या अन्तराय है। अतएव साधकको अपने मनसे भोगोंका गुरुत्व, महत्त्व विल्कुल निकाल देनेका प्रयत्न करना चाहिये।

एक बार काशीमें एक विधवा बहिन मिली थी। वह अपनी स्थितिमें बहुत ही सतुष्ट थी। उसने मुझे बताया कि 'विधवा होनेके बाद ही भगवत्कृपासे मेरी मनोवृत्ति बदल गयी। मैंने भोगोंके अभावमें सुखका अनुभव किया।' उसने कहा—'मैं यदि संसारमें भोग-जीवन बिताती, मेरे बाळ-बच्चे होते, कोई बीमार होता, कोई मरता, किसीके विवाहकी चिन्ता होती। हजारो तरहके नये-नये अभावोंकी आगमें मुझे झुलसते रहना—जलते रहना पड़ता। भव मैं बड़ी सुखी हूँ, विना किसी भय-आशङ्काके भगवान्का भजन करती हूँ। रूखा-सूखा जो मिल जाता है, खा लेती हूँ, जो मोटा-झोटा मिल जाता है पहन लेती हूँ। मेरे कोई आवश्यकता ही नहीं है। न मुझे शृङ्गारकी चिन्ता है, न आवश्यकता है, न मुझे जीभके खादकी चिन्ता है, न आवश्यकता है। यदि इसी प्रकार विधवा बहिनोके, अभावग्रस्त भाई-बहिनोके भाव बदल जायँ और वे अभावकी स्थितिमें अनुकूलताका अनुभव करने लगें तो सभी तुरंत सुखी हो सकते हैं। वस्तुतः संसारमें सुख-दुःख किसी वस्तुमें,

अवस्थामें, स्थितिमें या प्राणी-पदार्थमें नहीं है। वह तो केवल मनकी भावनामें है। भावना बढल जाय, दुःखमें भगवत्कृपाके दर्शन हो तो दुःख नामक कोई वस्तु रह ही नहीं जायगी। भावनामें ही दुःख-सुख रहते हैं। एक आदमी ध्यानका अभ्यास करनेके लिये कोठरीमें जाकर बाहरसे बंद कर लेनेको कहता है और दूसरे आदमीको कोई वैसी ही कोठरीमें बलपूर्वक बंद कर देता है। दोनो एक-सी कोठरीमें, एक-सी स्थितिमें है। दोनोके ही चित्त चञ्चल है, ध्यानका अभ्यास करनेवालेका भी मन नहीं लग रहा है और दूसरेका मन तो चञ्चल है ही। पर उनमें जो स्वेच्छासे ध्यानके अभ्यासके लिये बंद हुआ है, वह सुखका अनुभव करता है और जिसको अनिच्छासे बंद किया गया है वह दुःखका। इसका कारण यही है कि पहलेकी उसमें अनुकूल भावना है और दूसरेकी प्रतिकूल। इसी प्रकार एक मनुष्य अपना सर्वस्व छुटाकर स्वेच्छासे फकीर बना है और एक दूसरेको डाकुओंने छुटकर घरसे निकाल दिया है। दोनो ही घर और धनसे रहित हैं, पर फकीर सुखी है और छुटा हुआ दुखी, क्योंकि उनमें फकीरकी अपनी स्थितिमें अनुकूल भावना है और छुट जानेवालेकी प्रतिकूल। यदि मनुष्य भगवत्प्राप्तिमें सहायरूप मानकर भोग-वस्तुओंके अभावको भगवत्कृपासे प्राप्त परम हितकी स्थिति मान ले तो उसकी अनुकूल भावना हो जायगी, और वह उसमें परम सुखी हो जायगा। श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

जाके प्रिय न राम बैदेही।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।

मा० जी० ल० ४--

अथवा—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ ।

सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ ॥

बात ठीक ही है—हम यदि किसीके माना, पिता, सुहृद्, भाई, वन्धु, स्वामी, पत्नी हैं और उससे हमारा यथार्थ प्रेम है तो हम उसे उसी पथपर ले जाना या चलाना चाहेंगे, जो उसके भविष्यको उज्ज्वल और सुखमय बनानेवाला है । जो ऐसा उपदेश देते हैं कि जिसके पालनसे उसका अहित होता है, भविष्य अन्वकारमय होता है, उसे नरकोमें जाना पड़ता है—वे तो उसका प्रत्यक्ष ही बुरा करते हैं । इस प्रकार चोरी, जारी, असत्य, हिंसा आदिमें लगानेवाले तो वस्तुतः उसके वैरी ही हैं, वे स्वयं भी नरकगामी होते हैं और अपने उस आत्मीयको भी नरकोमें ढकेलनेमें सहायक होते हैं । देवर्षि नारदजीने कहा है—

पुत्रान् दारांश्च शिष्यांश्च सेवकान् वान्धवांस्तथा ।

यो दर्शयति सन्मार्गं सद्गतिस्तं लभेद् ध्रुवम् ॥

यो दर्शयत्यसन्मार्गं शिष्यैर्विश्वासितो गुरुः ।

कुम्भीपाके स्थितिस्तस्य यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥

स किं गुरुः स किं तातः स किं स्वामी स किं सुतः ।

वः श्रीकृष्णपदाम्भोजे भक्तिं दातुमनीश्वरः ॥

(ब्रह्मचैवर्त० ब्रह्म० ८ । ५९—६१)

‘जो मनुष्य पुत्र, स्त्री, शिष्य, सेवक और भाई-वन्धुओंको सन्मार्ग (भगवान्के मार्ग) में लगाता है, उसको निश्चय ही सद्गति-की प्राप्ति होती है और जो गुरु अपने विश्वस्त शिष्यको (कोई भी गुरुजन अपने प्रिय सम्बन्धीको) असत् मार्ग (भगवद्विरोधी

पाप-मार्ग) में लगाता है, वह जबतक चन्द्रमा-सूर्य रहते हैं तबतक कुम्भीपाक नरकमें रहता है । जो गुरु, पिता, स्वामी, पुत्र अपने शिष्य, पुत्र, सेवक (या पत्नी) तथा पिताको श्रीकृष्ण-चरणारविन्द-की भक्तिमें नहीं लगा सकता, वह गुरु, पिता, स्वामी और पुत्र ही नहीं है ।'

अतएव साधक जब भगवत्कृपासे भोगोंके अभावरूप यथार्थ सुखकी स्थितिमें पहुँचता है और उसके मनसे भोगासक्ति चली जाती है, तब यह समझना चाहिये कि उसके सौभाग्य-सूर्यका उदय हुआ है । यही जीवनका वह शुभ तथा महान् मङ्गलका मुहूर्त है, जब कि अनादिकालसे विषयासक्तिमें फँसा हुआ जीव उसके बन्धनसे मुक्त होकर भगवान्की ओर अग्रसर होनेके लिये प्रयत्नशील होता है । यही उसके लिये बड़भागीपनका क्षण है ।

रमा विलास राम अनुरागी । तजत बमन इव नर बड़ भागी ॥
नहीं तो—

सुनहु उमा ते लोग अभागी । हरि तजि होहिं विषय अनुरागी ॥

आज यह विषयानुरागका मोह मिटा, बस, आज ही जीवनका यथार्थ शुभ क्षण आरम्भ हुआ है, आज ही विपत्तिके विकराल वनसे निकलकर सुखमय प्रकाशमय पथपर पैर रखनेका सुअवसर प्राप्त हुआ है । यही सच्चे सौभाग्यका माहिमामय मार्ग है ; यही यथार्थ त्याग है । घर छोड़ना त्याग नहीं है, कपड़े या नाग बदलना त्याग नहीं है । यदि मनमें विषयानुराग है तो वहाँ घरका नाम भवन या महल न होकर आश्रम या मठ होगा, नाममें भी संन्यासका संकेत

होगा । पर सच्चा सन्यास, सम्यक् त्याग तो तभी होगा, जब विषयानुरागका त्याग होगा । विषयीके सारे कार्य विषयानुरागसे ओत-प्रोत होते हैं और साधकके भगवदनुरागसे । यही उनका महान् अन्तर है । विषयीका मन सदा-सर्वदा विषयोमें अटका रहता है, वह मृत्युके समयमें भी विषय-चिन्तनमें लगा रहता है और साधकका मन सदा विषयोसे विरक्त रहता है, उनके त्यागमे उसे जरा-सी कठिनता नहीं प्रतीत होती । उसका चित्त निरन्तर भगवान्के चिन्तनमें सलग्न रहता है । मौत चाहे जब आवे, वह तो उसे मिलेगा भगवान्का चिन्तन करता हुआ ही । इसीसे उसको भगवान्की प्राप्ति सुनिश्चित मानी जाती है ।

पर यदि कोई ऐसा अधिकारी हो कि भगवान् उसके पास प्रचुर मात्रामें भोग-पदार्थ रखकर ही उसे अपनी ओर लगाना चाहते हों, उसके द्वारा आदर्शरूपसे भोग-पदार्थोंका सेवन कराना चाहते हो, तो इसमें भी कोई आपत्तिकी बात नहीं है । यदि कोई राग-द्वेषसे रहित होकर अपने वशमें किये हुए मन-इन्द्रियोसे विषयोका सेवन करता है तो उसे भगवान् प्रसाद देते हैं अर्थात् वह अन्तःकरणकी प्रसन्नता या निर्मळताको प्राप्त होना है और उस प्रसादसे-निर्मळतासे उसके सारे दुःखोंका अभाव हो जाता है—

रागद्वेषविशुद्धैस्तु

विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवृत्तयैर्विधेयात्म ।

प्रसादमधिगच्छति ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां

हानिरस्योपजायते ।

(गीता २ । ६४-६५)

बन्धनका प्रधान कारण है अनुकूल विषयोंमें आसक्ति या राग ।

जहाँ अनुकूलमें राग होता है वहाँ प्रतिकूलमें द्वेष रोग ही है । अनुकूल वस्तुओपर मनुष्य अपना ममताकी मुहर लगाकर उनका स्वामी, भोक्ता बनना चाहता है, तब बन्धन और भी गाढा हो जाता है । यदि वह अपनेको तथा भगवान्के द्वारा दिये हुए समस्त प्राणी-पदार्थोंको भगवान्का बना दे, भगवान्का मान ले, जो यथार्थमें हैं, अपने सहित अपना सर्वस्व भगवान्का बनाकर केवल भगवान्के चरणोंमें ही सारी ममताको लगा दे—

सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥

—तो फिर भगवान्की प्राप्तिमें विलम्ब न हो । ऐसी अवस्थामें धन-वैभव, मकान-जमीन सभी कुछ रहें, कोई आपत्ति नहीं, वे रहेंगे भगवान्के और उनके द्वारा होगी केवल भगवान्की सेवा । भोगोंमें ममत्व जल जायगा । विषयोंकी आसक्ति नष्ट हो जायगी । सारी ममता और सारी आसक्ति अनन्य अनुरागके रूपमें भगवान्के चरणोंमें आकर केन्द्रित हो जायगी । फिर वह साधक स्वयं कुछ नहीं करेगा, भगवान् ही उसके हृदयदेशमें विराजित होकर अपनी मनमानी करेंगे, क्योंकि वही भगवान्का अपना घर है—

जाहि न चाहिअ क्वहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु ।

वसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥



मनुष्य-जीवनका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति

(कर्मानुसार गतियोंके भेद)

मनुष्य-जीवनका एकमात्र पवित्र उद्देश्य या परम ध्येय है—
जन्म-मृत्युके चक्रसे निरयमुक्ति । इसीको मोक्ष, आत्मसाक्षात्कार,
तत्त्वज्ञान, बोध, भगवत्प्राप्ति या भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कहते हैं । अनन्य
तीव्र इच्छाके साथ उपयुक्त साधन करनेपर इसी जन्ममें
मानवजन्म मिळा है । पर वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र है । साधनानुकूल
कर्म भी कर सकता है और उसके सर्वथा प्रतिकूल भी । कर्मानुसार
ही फल प्राप्त होता है । मनुष्य साधना करके मुक्त भी हो सकता
है, सत्कर्म करके विपुल भोगमय स्वर्गकी प्राप्ति भी कर सकता है,
असत्-कर्म करके घोर यन्त्रणामय नरकोमें भी जा सकता है और
पशु, पक्षी, कीट-पतंग तथा जड वृक्ष, ब्रता-पापाण भी बन सकता
है । मानव-जीवनको व्यर्थ अनर्थके कार्योंमें खोकर अनन्तकालीन
दुःखका भविष्य निर्माण कर सकता है । इसीलिये कहा जाता है
कि दुर्लभ मनुष्य-जन्मका एक क्षण भी व्यर्थ-अनर्थमें न खोकर
केवल भगवत्प्राप्तिके साधनमें ही लगाना चाहिये । स्वर्गका भोग-सुख
मिलेंगे, तो वे भी वस्तुतः विनाशी तथा दुःखप्रद ही होंगे । कहीं
कर्मकी फलस्वरूप दुर्गति हो गयी, तब तो बहुत ही बुरी बात
होगी । लेने-देने पड़ जायेंगे ; पर वर्तमानकालमें अविकाशमें
मनुष्य ऐसा भोगासक्त हो गया है कि वह जीवनके असौ उद्देश्य
भगवत्प्राप्तिको भूलकर धर्हता-ममता राग-द्वेष एवं कामकी गंध-
लोभसे अभिभूत हो ऐसे ही कर्म करता है, जिनसे जीवनभर यहाँ
भी अशान्ति, दुःख, मय, विपाद तथा चिन्ता आदिसे ग्रस्त-सत्रस्त

रहता है और भोगोंकी प्राप्तिके लिये पापकर्ममें लगा रहनेके कारण मृत्युके बाद आसुरी योनियोको तथा नरकोंकी घोर यन्त्रणाओंको प्राप्त होता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

आसुरीयोनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

(ऐसे लोगोंको) मेरी (भगवान्की) प्राप्ति तो होती ही नहीं, वे मूढ पुरुष जन्म-जन्ममें आसुरी योनि (राक्षस), पिशाच, भूत-प्रेत या कुत्ते, सूअर, गधे, आदिको प्राप्त होते हैं फिर उससे भी अति नीच गतिमें अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ।' दुर्लभ मनुष्य-जीवनका यह कितना अवाञ्छनीय दुष्परिणाम है ।

धर्मानुसार मनुष्य निम्नलिखित गतियोको प्राप्त होता है—

(१) अहंता-राग-द्वेषसे सर्वथा रहित जीवन्मुक्त पुरुष अथवा इस भावके साधनसे सम्पन्न पुरुष, मरनेपर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते । सूक्ष्म कारण-शरीर नष्ट हो जाते हैं । यह सधोमुक्ति है ।

(२) भगवान्की भक्तिमें ही जीवन समर्पण कर देनेवाले भक्तको भगवान्के दिव्य पार्षद स्वयं आकर ज्योतिर्मय, स्वप्रकाश सच्चिदानन्दमय भगवत्स्वरूप नित्य परम धाम बैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, कैलास आदिमें दिव्य विमानद्वारा ले जाते हैं । वह वहाँ उस दिव्य धाममें सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि आदि भगवत्-स्वरूपताको प्राप्त करके अचिन्त्य अनिर्वचनीय भगवत्स्थितिमें रहता है । पर, प्रेमी साधक इस स्थितिको भी स्वीकार नहीं करते, वे साक्षात् सेवारूप बनकर नित्य भगवत्-सेवापरायण ही रहते हैं । देनेपर भी उपर्युक्त

सालोक्यादिको ग्रहण नहीं करते । यही परभक्ति या प्रेमाभक्तिको प्राप्त पुरुषका भगवत्सेवामें नित्य प्रवेश है ।

ये दोनों ही परम गति हैं । यही मानव जीवनकी परम सफलता है । यह अनादिकालसे भटकते हुए जीवका उससे मुक्त होकर नित्य सत्य परमानन्दस्वरूपको प्राप्त होना है ।

(३) निष्कामभावसे परमार्थ-साधन करनेवाले ब्रह्मवेत्ता पुरुष देवयान उत्तरायण या अर्चिमार्गसे दिव्य देवलोकमें श्रवताओके द्वारा ले जाये जाकर, वहाँ अभ्यर्णित होते हुए ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं । ससारमें उनका पुनरावर्तन नहीं होता । यह क्रममुक्ति है ।

(४) सकाम भावसे शास्त्रोक्त सत्कर्म करनेवाले पुरुष पितृयान दक्षिणायन या धूममार्गसे दिव्य चन्द्रलोकतक जाते हैं, यही भोगमय प्रकाशमय स्वर्गधाम है । इसके सहस्रों रूप हैं, पुण्यात्मा पुरुष क्षीण होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें लौट आते हैं ।

(५) ज्ञान-विज्ञानरहित मोहग्रस्त भोगासक्त पाप-परायण मनुष्य मरनेके बाद वायुके सहारे चरनेवाले (वायु प्रधान) दूसरे शरीरको धारण कर लेते हैं, जो रूप, रंग और अवस्था आदिमें ठीक पहले मृत-शरीरके जैसा ही होता है । यह शरीर माता-पिताके द्वारा उत्पन्न नहीं होता । यह कर्मजनित होता है और यातना-भोगके लिये ही मिलता है । तदनन्तर शीघ्र ही उसके दारुण पाशसे बाँधकर घोर भयंकर आकृति क्रूरकर्मा यमदूत डडोंसे पीटते तथा बड़ी बुरी तरह यातना देते हुए दक्षिण दिशामें यमलोककी ओर खींचकर ले जाते हैं । वहाँ कर्मानुसार उसे किस-लिये नरकादि यन्त्रगा-भोगकी व्यवस्था होती है ।

(६) जो न तो मुक्त होते हैं, न देवयान-पितृयान मार्गसे जाते हैं और न नरकोमें ही जाते हैं—ऐसे प्राणी कर्मानुसार यही मच्छर, मक्खी, जूँ, छिन्ना, घुन आदिकी योनिको प्राप्त करते हैं ।

कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि मनुष्य मरते ही तत्काल यहीं दूसरे मनुष्य शरीरका अथवा पशु-पक्षी—निर्यक् या वृक्ष-पाषाण आदिके शरीरको प्राप्त हो जाता है । अन्य लोकोंमें नहीं जाता । शाप-त्रदानसे या प्रबल वासनायुक्त तत्काल पुनर्जन्मदायक कर्मोंके कारण ऐसा होता है । कई योगभ्रष्ट पुरुष भी मरनेपर तुरत मनुष्य-शरीर प्राप्त करते हैं । इसके भी नियम हैं ।

इन सब बातोंपर विचार करके मनुष्यको अपने जीवनके वास्तविक एकमात्र परम तथा चरम ध्येय भगवत्प्राप्तिके साधनमें ही प्रवृत्त रहना चाहिये और वास्तवमें अहंता, राग-द्वेष अभिनिवेशरूप अविद्यासे मुक्त होकर ब्रह्मस्वरूपता या भगवान्के दिव्य परमधामको प्राप्त कर लेना चाहिये । इसमें जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिये । भगवत्कृपासे प्राप्त मनुष्यशरीररूप सुअवसर भविष्यमें भयानक दुःख देनेवाले व्यर्थ-अनर्थके कार्योंमें चला न जाय । शरीर क्षण-भंगुर है, अतः किसी स्थितिविशेषकी प्रतीक्षा न कर भजन-परायण हो ही जाना चाहिये । नामरूपके अभिमान तथा राग-द्वेषसे छूटनेपर ही मनुष्य परम पद या भगवान्को प्राप्त कर सफ़लजीवन हो सकता है, केवल संत-महात्मा, भक्त-प्रेमी या ज्ञानी कहलानेमात्रसे नहीं । कहलाये चाहे नहीं, पर बने अवश्य ।

रस (प्रेम)-साधनकी विलक्षणता

स्वरूपतः तत्त्व ष्क होनेपर भी रसरूप भगवान् और रसकी साधना—प्रेम-साधना कुछ विलक्षण होती है । रस-साधनामें एक विलक्षणता यह है कि उसमें आदिसे ही केवल माधुर्य-ही-माधुर्य है । जगत्में दःख-दोष देखकर जगत्का परित्याग करना, भोगोंमें विपत्ति जानकर भोगोंको छोड़ना, ससारको असार समझकर इससे मनको हटाना—ये सभी अच्छी बातें हैं, बड़े सुन्दर साधन हैं, होने भी चाहिये । पर रसकी साधनामें कहींपर भी खारापन नहीं रहता । इसलिये किसी वस्तुको वस्तुके नाने त्याग करनेकी इसमें आवश्यकता नहीं रहती । प्रेमकी—रसकी साधना स्वाभाविक चलती है रागको लेकर । रस ही राग है, राग ही रस है । अतः भगवान्में अनुराग-को लेकर रसकी साधनाका प्रारम्भ होता है । एकमात्र भगवान्में

अनन्य राग, तो अन्यान्य वस्तुओंमें रागका स्वाभाविक ही अभाव हो जाता है । इसलिये किसी वस्तुका न तो स्वरूपतः त्याग करनेकी आवश्यकता होती और न किसी वस्तुमें दोष-दुःख देखकर उसे त्याग करनेकी प्रवृत्ति होती है । उन वस्तुओंमेंसे राग निकल जानेके कारण कहीं द्वेष भी नहीं रहता । ये राग-द्वेष द्वन्द्व है । जहाँ राग है, वहाँ द्वेष है । जहाँ द्वेष है, वहाँ राग भी है । द्वन्द्वकी वस्तु अकेली नहीं होती । इसीलिये उसका नाम 'द्वन्द्व' है । सो या तो ज्ञानी विचारके द्वारा द्वन्द्वातीत होते हैं या ये रसिक लोग—प्रेमीजन द्वन्द्वोंसे अपने लिये अपना कोई सम्पर्क नहीं रखकर उन द्वन्द्वोंके द्वारा ये अपने प्रियतम भगवान्को सुख पहुँचाते हैं और प्रियतमको सुख पहुँचानेके जो भी साधन हैं, उनमेंसे कोई-सा साधन भी त्याज्य नहीं, कोई-सी वस्तु भी हेय नहीं । एव उन वस्तुओंमें कहीं आसक्ति है नहीं कि जो मनको खींच सके । इसलिये रसकी साधनामें कहींपर कडवापन नहीं है । उसका आरम्भ ही होता है माधुर्यको लेकर, भगवान्में रागको लेकर । राग बड़ा मीठा होता है । रागका स्वभाव ही है मधुरता । जिसमें हमारा राग हो जाय, जिसमें हमारा प्रेम हो जाय,, उसका प्रत्येक पदार्थ, उससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु सुखप्रदायिनी हो जाती है, सुखमयी बन जाती है । यह रागका—प्रेमका स्वभाव है । वह राग जहाँपर भी है, जिस किसी वस्तुमें है, वही वस्तु सुखाकर हो जाती है और यह रससाधना शुद्ध होती है रागसे ही । इस साधनाकी बड़ी सुन्दर ये सब चीजें हैं समझनेकी, सोचनेकी, पढ़नेकी और वास्तवमें साधना करनेकी ।

इस रसकी साधनामें सबसे पहला साधन होता है पूर्वराग । यह प्रियतम भगवान् श्रीश्यामसुन्दरके, भगवान् श्रीगववेङ्कके, किसीके भी त्रेमास्पदके गुणको सुनकर, उनके नामको सुनकर, उनके सौन्दर्य-माधुर्यकी बात सुनकर, उन्हें स्वप्नमें देखकर, उनकी सुरलीध्वनि या नूपुरध्वनि सुनकर, उनकी चर्चा सुनकर, कहीं दूरसे उन्हें देखकर, उनकी लीलास्थलीको देखकर मनमें जो एक आकर्षण पैदा होता है, मिलनेच्छाका उदय होता है, उसे पूर्वराग कहते हैं । पूर्वरागका जहाँ उदय हुआ, वहीं जिसके प्रति रागका उदय हुआ, उसको प्राप्त करनेके लिये, उसको पुनः-पुनः देखनेके लिये, उसके बार-बार गुण सुननेके लिये, उसकी चर्चा करनेके लिये, उसकी निवासस्थली देखनेके लिये सारी इन्द्रियाँ, सारा मन व्याकुल हो उठता है । जहाँ भोगके लिये होनेवाली व्याकुलता निरन्तर दुःखदायिनी होती है, वहाँ यह भगवान्के लिये होनेवाली व्याकुलता अत्यन्त दुःखदायिनी होनेपर भी परम सुखस्वरूपा होती है । भगवान्के अतिरिक्त जितने भी विषय हैं, जितने भी भोग हैं, सभी दुःखयोनि हैं, दुःखप्रद हैं, कोई भी वस्तुतः सुखस्वरूप नहीं है, इनमें तो सुखकी मिथ्या कल्पना की जाती है । ये भगवान् सर्वथा-सर्वदा अपरिमित अनन्त सुखस्वरूप हैं । यही बड़ा भेद है । जितने भी इस लोकके, परलोकके, जगत्के भोग हैं, कोई भी सुखस्वरूप नहीं है, आनन्दस्वरूप नहीं है । उनमें अनुकूलता होनेपर सुखकी कल्पना होती है, सुखका मिथ्या आभास होता है । उनमें सुखकी सत्ता नहीं है । भगवान् हैं अनन्त सुख-सागर । आनन्द भगवान्का स्वरूप है । आनन्द भगवान्में है, सो नहीं । आनन्द भगवान्का स्वरूप ही है । वह

आनन्द नित्य है, अखण्ड है, अतुलनीय है और अनन्त है । वह आनन्द साक्षात् सच्चिन्मय भगवद्रूप है । इसलिये उन आनन्दस्वरूप भगवान्‌में जिसका राग होता है, उसको आरम्भसे ही आनन्द ही ही स्फूर्ति होती है, अतः प्रारम्भसे ही उसे सच्चिद-आनन्दके दर्शन होते हैं, आनन्दका ही सतत सङ्ग, निरन्तर आस्वाद मिलता है । इस रसकी साधनामें आरम्भसे ही सुखस्वरूप भगवान्‌में पूर्वरोग होता है । सुखस्वरूप भगवान्‌में जो राग होता है, वह भगवान्‌की मिलनेच्छा उत्पन्न करता है और वह वियोग अस्यन्त दुःखदायी होता है । भगवान्‌के विरहमें जो अपरिसीम पीड़ा होती है, उसके सम्बन्धमें कहते हैं कि वह कालकूट विषसे भी अधिक ज्वालामयी होती है । वह महान् पीड़ा नवीन कालकूट विषकी कटुताके गर्वको दूर कर देती है—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनः ।

पर उस विषम वियोग-विषमें उस विषके साथ एक बड़ी विलक्षण अनुपम वस्तु लगी रहती है—भगवान्‌की मधुरातिमधुर अमृतस्वरूप चिन्मयी स्मृति । भगवान्‌की यह स्मृति नित्यानन्त-सुखस्वरूप भगवान्‌को अंदरमें ला देती है । फिर वह विष विष नहीं रह जाता । भयानक विष होते हुए भी वह देवलोकातीत भागवत-मधुर विलक्षण अमृतका आस्वादन कराता है । इसलिये भगवान्‌के मिलनकी आकाङ्क्षाके समय भगवान्‌के जिस अमिलन-जनित तापमें जो परमानन्द है, वह परमानन्द किसी दूसरे विषयके अमिडनपर उसके मिलनेकी आकाङ्क्षामें नहीं । इस तापमें परमानन्द हुए विना रह नहीं सकता, क्योंकि भगवान् परमानन्दस्वरूप हैं । भोग-वस्तुएँ

सुखस्वरूप नहीं है । इसलिये उनका अमिठन कभी सुखदायी नहीं हो सकता, वह दुःखप्रद ही रहेगा । अतएव इस रसकी साधनामें, प्रेमकी साधनामें प्रारम्भसे ही भगवान्‌का सुखस्वरूप साधकके रागका विषय होता है । भगवान्‌का कण-कण आनन्दमय है, रसमय है । वहाँ उस रसमयताके अतिरिक्त, उस रसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी कोई भी सत्ता नहीं है, भाव नहीं है, अस्तित्व नहीं है, होनापन नहीं है । वहाँ प्रत्येक रोम-रोममें केवल भगवत्स्वरूपता भरी है और भगवत्स्वरूपताका परमानन्द उसका स्वाभाविक सहज रूप है । वस्तुतः जहाँ-जहाँ भगवान्‌की स्मृति है, वहाँ-वहाँ भगवद्‌रसका समुद्र लहरा रहा है । अतएव आनन्दमय भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, रसरूप भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, प्रेमके द्वारा प्रेमास्पद भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये जिस प्रेम-साधनकी—रससाधनकी निष्ठा होती है, आरम्भसे ही उसमें वह परम सुखका—परम माधुर्यका आस्वादन मिलता है । तो फिर भगवान्‌के विरहमें दुःखका होना क्यों माना गया है ? विष क्यों बताया गया है ? उसमें कालकूटसे भी अधिक विषकी कटुता क्यों कही गयी है ? इसका उत्तर यह है कि वह भगवान्‌के मिलनकी आकाङ्क्षा, संसारके भोगोंको प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षासे अत्यन्त विलक्षण होती है । यहाँ जो संसारका, संसारकी वस्तुओंका, प्राकृत पदार्थोंका प्राप्त होना है, वह यह अर्थ नहीं रखता कि वही वस्तु प्राप्त होनी चाहिये । एक वस्तुकी प्राप्ति न हो तो, दूसरी वस्तुसे संतोष हो सकता है । यहाँ तो विनिमय चलता है । एक वस्तु न मिली तो वैसी ही

दूसरी वस्तुसे काम चल गया । एक खिलौना न मिला तो बच्चेको दूसरा देखनेको मिल गया । पर वहाँ भगवान्के प्रेममें उस प्रेमके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुके मिलनेकी आकाङ्क्षा कदापि नहीं होती; क्योंकि अन्य कोई भी वस्तु उसकी पूर्ति कर ही नहीं सकती । किसी दूसरी वस्तुसे उस कामनाकी तृप्ति नहीं हो सकती । इसलिये भगवान्के मिलनके मनोरथमें जो संताप होता है, वह संताप इतना तीव्र होता है कि दूसरी किसी वस्तुसे किसी भी परिस्थितिसे वह मिट ही नहीं सकता । इसीलिये वह अत्यन्त तीव्र होता है । उसकी तीव्रता जबतक भगवान् नहीं मिलते, उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है ।

यह अवश्य ही बड़ी मनोहर बात है कि भगवान्मे परस्पर विरोधी गुण—धर्म युगपत् रहते हैं, जो भगवान्की भगवत्ताका एक लक्षण माना जाता है और यह कहा जाता है कि जिसमें परस्पर विरोधी गुण-धर्म एक साथ, एक समयमें रहें, वह भगवान् है । जहाँ गरमी है, वहाँ सर्दी नहीं है, जहाँ दुःख है, वहाँ सुख नहीं है, जहाँ मिलन है, वहाँ अमिलन नहीं है और जहाँ भाव है, वहाँ अभाव नहीं है । इस प्रकार दो विरोधी वस्तु जगत्में एक साथ एक समय नहीं रहती । यह नियम है । परंतु भगवान् ऐसे विलक्षण हैं—

अणोरणीयान् महतो महीयान् ।

(कठ० १ । २ । २०)

वे अणु-से-अणु भी हैं और उसी समय वे महान्-से-महान् भी हैं ।

तदेजति तन्वैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।

(ई० ५)

‘वे चलते हैं और नहीं भी चळते, वे दूर हैं और पास भी हैं ।’ वे एक ही समय निर्गुण भी हैं, उसी समय वे सगुण भी हैं । वे निराकार हैं; उसी समय वे साकार भी हैं । उनमें युगपत्—एक साथ परस्पर-विरोधी गुण-धर्म रहते हैं । और जिस प्रकार भगवान्में परस्पर-विरोधी गुण-धर्म एक साथ निवास करते हैं, उसी प्रकारसे वे परस्पर-विरोधी गुण-धर्म भगवत्प्रेममे, भगवत्प्रेमकी साधनामें भी एक साथ रहते हैं । वहाँ प्रेम-साधनामें और प्रेमोदयके पश्चात् भी हँसनेमें रोना और रोनेमें हँसना चलता है । रोना विरह विकलताजनित पीड़ा का और हँसना मधुरस्मृतिजनित आनन्दका । दोनों साथ-साथ चलते हैं । क्यों साथ चलते हैं ? यह बिल्कुल युक्तिसगत बात है । जिसके लिये वे रोते हैं, उसकी स्मृति है, स्मृति न हो तो किसके लिये रोना और स्मृति है तो उसके सांनिध्यका आनन्द साथ है । अतः रोना और हँसना—ये दोनो इस रसके साधनमें साथ-साथ चलते हैं । वस्तुतः वह रोना भी हँसना ही है । वह रोना भी मधुर है, मधुरतर है । फिर एक बात—ये मिलन और वियोग प्रेमके दो समान स्तर हैं । इन दोनोमे ही प्रेमीजनोकी भाषामें, प्रेमीजनोकी अनुभूतिमें समान ‘रति’ है । तथापि यदि कोई उनसे पूछे कि ‘तुम दोनोमेंसे कौन-सा लेना चाहते हो, एक ही मिलेगा—सयोग या वियोग ?’ यह बड़ा विलक्षण प्रश्न है । जो प्राणाराम है, जो प्राणप्रियतम है, जो प्राणाधार है, जिसका क्षणभरका विछोह भी अत्यन्त असह्य है, जिसके बिना प्राण

नहीं रह सकते, वह मिले या उसका वियोग रहे ? हमसे पूछा जाय कि 'तुम दोनोमेंसे कौन-सा चाहते हो' तो स्वाभाविक हम यही कहेगे—'हम मिलन चाहेंगे, सयोग चाहेंगे, वियोग कदापि नहीं।' पर इन प्रेमियोकी कुछ विलक्षण—अनोखी रीति है। वे कहते हैं कि इनमेंसे यदि एक मिले तो हम वियोग चाहते हैं, सयोग नहीं चाहते। भाई, क्यों नहीं चाहते ! बड़ी विलक्षण बात है। तो कहते हैं कि वियोगमें सयोगका अभाव नहीं है; यद्यपि वियोगमें बाहरसे दर्शन नहीं है, बाहरी मिलन नहीं है, तथापि अभ्यन्तरमें, अंदरमें मधुर मिलन हो रहा है। मिलनका अभाव तो है ही नहीं। और असली मिलन होता भी है मनका; हमारे सामने कोई वस्तु रहे भी और हमारी खुली आँखें भी हैं, पर मनकी वृत्ति उस आँखके साथ नहीं है तो सामनेवाली वस्तु आँखोके सामने रहनेपर भी दीखेगी नहीं। योगसाधनमें तो ऐसा एक स्तर भी होता है कि जहाँपर, कहते हैं कि आँखें खुली हैं, पर कुछ दीखता नहीं है। यह क्यों होता है। इसलिये कि आँखोंमें जो देखनेवाला है, जो देखनेकी वृत्ति है, वह नहीं रहती। अतः आँख खुली रहनेपर भी नहीं दिखायी पड़ता। इसी प्रकारसे वियोगमें नित्य संयोग रहता है, प्रियतम भगवान् सर्वथा मिले रहते हैं और वहाँ निर्वाध लीला चळती है। यो बाह्य वियोगमें आभ्यन्तरिक मिलन तो है ही, उसमें एक विलक्षणता भी है। वियोगके संयोगमें और सयोगके संयोगमें क्या विलक्षणता है ? संयोगका मिलन बाहरका मिलन है। उसमें समय, स्थान, लोकमर्यादा आदिके बन्धन हैं। यह बिल्कुल स्वाभाविक बात है, सब समझ सकते हैं।

बोले—भाई ! आज आपसे मिलनेका समय हमने निश्चित किया है, दिनमें तीन बजे । उसके बाद दूसरा काम करना है, फिर तीसरा काम करना है । और अमुक स्थानपर मिलना है । इस प्रकार यह मिलन स्थान-सापेक्ष है, यह मिलन समय-सापेक्ष है । फिर वह बाहरका मिलन कैसा है ? जैसे राजदरबारमें राजपुत्र भी जाकर दरबारके नियमानुसार राजासे मिलता है, वह सीधा जाकर गोदमें नहीं बैठता । सबके अलग-अलग स्थान निश्चित रहते और तदनुसार ही आसन लगे होते हैं । राजदरबारमें एक मर्यादा है, तदनुसार ही अलग-अलग आसन है । यह नहीं कि महलमें जैसे राजकुमार पिताकी छातीपर बैठकर उनकी दाढ़ी नोचने लगे, वैसे ही दरबारमें भी करे । अलग-अलग मर्यादा होती है मिलनकी स्थानके अनुसार । अतः संयोगके मिलनमें स्थान निर्वाध नहीं, मिळनमें समय निर्वाध नहीं । मिलनमें व्यवहार निर्वाध नहीं । और त्रियोगके मिलनमें जो अंदर मिलन होता है, वह कितनी देर होता है ? कोई देर-सवेरकी अपेक्षा नहीं । लगातार दिनभर होता रहे, कौन रोकता है ? और कहाँ होता है ? जहाँ भी वह अंदर प्रकट हो जाय, वहीं होता है—जंगलमें, वनमें, घरमें, बाहर, बाजारमें—कहींपर भी । वह स्थानकी अपेक्षा नहीं रखता कि अमुक स्थानमें मिळन होगा । फिर मिलनमें व्यवहार कैसा होगा ? वहाँ न राजदरवार है न मइल है । जैसा मनमें आये, वैसा ही निर्वाध स्वच्छन्द व्यवहार । इस प्रकार व्यवहारका स्वातन्त्र्य, समयका स्वातन्त्र्य और स्थानका स्वातन्त्र्य जैसा अन्तरात्मासे अन्तरात्माके मिळनमें है वैसा बाह्य मिलनमें नहीं है । अवश्य ही अन्तरात्माके मिलनमें,

अभ्यन्तरके मिलनमें यदि वास्तविक मिलन न होता, तब तो यह वियोग बहुत बुरी चीज थी; क्योंकि भगवान्का, प्रियतमका वियोग तो सदा जळानेवाला ही है। पर यह प्रियतम श्रीभगवान्का वियोग है, संसारी वस्तुका नहीं है; इसलिये यह वियोग विलक्षण—परम सुखमय होता है। ससारकी किसी प्रिय वस्तुका वियोग हो जाता है, तब वह बार-बार याद आती है, पर मिलती नहीं। इससे वह उसकी स्मृति भी दुःखदायिनी होती है। हमारे एक मित्र हैं, बड़े अच्छे पुरुष हैं, बड़े विचारशील हैं, बड़े विद्वान् हैं, बड़े देशभक्त हैं, बड़े धार्मिक हैं—सब गुण हैं उनमें। उनके सुयोग्य पुत्रका कुछ वर्षों पूर्व देहावसान हो गया था। अतः वे जब-जब मिलते हैं, तब-तब कहते हैं, 'भाईजी! मैं उसको भुला नहीं सकता।' विचारशील हैं, वे समझते हैं कि जिस पुत्रका देहान्त हो गया, वह मिलेगा नहीं। वे दूसरोंको उपदेश कर सकते हैं, करते हैं; पर जब-जब एकान्तमें मिलते हैं, तब वही दशा देखी जाती है। वह वियोग क्यों दुःखदायी है ? इसीलिये कि उसमें स्मृति तो है, पर स्मृतिमें मिलन नहीं है। मिलनकी सम्भावना ही नहीं है। भगवान् तो स्मृतिमें स्वयं प्रकट होकर सुखदान करने लगते हैं। पर जगत्की प्रत्येक वस्तुका वियोग केवल दुःखदायी ही होगा है, क्योंकि उसमें मिलन है ही नहीं। प्रियतम भगवान्की बात इसीसे विलक्षण है। उसमें जहाँ बाहरका अमिलन हुआ, वहीं भीतरका मिलन प्रारम्भ हो गया। जरा-सी देरका भी वियोग प्रेमीको सहन होता

नहीं—वियोग रहता भी नहीं । वियोगकी जो असहिष्णुता है, वियोगका जो महान् संताप है, वह तुरन्त प्रियतमकी स्मृतिको मनमें उदित कर देता है बड़े विलक्षण रूपसे और वह स्मृति प्रियतमकी सुखस्वरूपा केवल स्मृति होकर नहीं रहती, वह प्रियतम भगवान्के साक्षात् मिलनका अनुभव कराती है । अतः जिस वियोगमें ऐसे मिलनका अनुभव हो, जिसमें समयकी, स्थानकी और मिलनके व्यवहारकी सर्वथा स्वतन्त्रता हो, वह अच्छा या वह परतन्त्र स्थान, परतन्त्र समय और परतन्त्र व्यवहारवाला थोड़े कालका मिलन अच्छा । इन दोनोंको देखकर ही प्रेमी कहता है कि संयोग-वियोग दोनोंमेंसे किसी एककी बात आप पूछें तो हम कहेंगे कि 'हमें वियोग दीजिये, संयोग नहीं ।' वियोगमें मिलनका अभाव नहीं है और संयोगमें वियोगकी सम्भावना है । इसलिये उसमें वियोगका दुःख भी रहता है—भावी वियोगका दुःख होता है कि कहीं मिली हुई चीज चली न जाय । अतः इस रसकी साधनामें प्रारम्भसे ही जहाँ वियोग है—जहाँ मिलन नहीं हुआ है, वहाँ पूर्वाग प्राप्त होता है और उस पूर्वागके कारणसे प्रियतमकी अपने प्रेष्ठ भगवान्की जो नित्य मधुर स्मृति रहती है, वह स्मृति सुखस्वरूपा होनेके कारण मार्गका प्रारम्भ होते ही माधुर्यका आस्वादन आने लगता है । इसीलिये यह रसका मार्ग—सर्वथा मधुर मार्ग है, मधुर मार्ग ।

दूसरी बात है—इस वियोगमें, इस मधुर मार्गपर चलनेमें जो आराध्य प्रियतम भगवान् हैं, एकमात्र उन्हीं प्रियतमकी अनन्य

आकाङ्क्षा रहती है, दूसरी आकाङ्क्षा रहती ही नहीं । भगवान्को छोड़कर, जगत्का स्वरूप तमोभय है, अन्धकारमय है और भगवान् हैं प्रकाशमय । उनमें प्रकाश-ही-प्रकाश है । मनमें भगवान्को प्राप्त करनेकी जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह वृत्ति सात्त्विक होती है । सात्त्विक वृत्ति प्रकाशरूपा होती है । भगवान् तो परम प्रकाशरूप है ही, इसलिये इस रसकी साधनामें निरन्तर और निरन्तर एकमात्र परम प्रकाशरूप भगवान् सामने रहते हैं । इसीलिये इसका नाम है—‘उज्ज्वल रस’ । मधुर रस और उज्ज्वल रस एक ही चीज हैं । ‘काम अन्ध तम, प्रेम निर्मल भास्कर’ । इसमें कामनालेश न होनेके कारण कहींपर भी अन्धकारके लिये कोई कल्पना ही नहीं है, दुःखके लिये कोई कल्पना ही नहीं है । इस रसकी साधनामें आरम्भसे ही भगवान्का स्वरूप, भगवान्का शब्द, भगवान्का स्पर्श, भगवान्का गन्ध और भगवान्का रस—ये सब साथ रहते हैं । जहाँ शुरुसे भगवद्‌रस साथ हो, वही रसकी साधना है । यह परम प्रियतम भगवान्की साधना है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँचों भोगरूप विषय जहाँ इन्द्रियचरितार्थताके लिये हैं, जहाँ ये प्राकृतिक विषय हैं, वहाँ ये बड़े गंदे, सर्वथा हेय और त्याज्य हैं तथा जहाँ इनको लेकर भगवान्के श्रीविग्रहका अप्रतिम सौन्दर्य नित्य नूतन रूपमें बढ़ता रहता है और जहाँ ये भगवान्की सुषमा-सामग्रीके रूपमें हैं, वहाँ ये रसस्वरूप हैं, वहाँ ये पवित्र हैं, परम पावन हैं । केवल पवित्र ही नहीं हैं, पवित्र करनेवाले हैं । इस साधनामें कहीं भगवान्की सुरीली मुरली-ध्वनि सुनायी पड़ती है,

कहीं भगवान्‌के इस स्वरूपकी मनोहारिणी शक्ति होती है, कहीं भगवान्‌का मधुर प्रसाद प्राप्त होता है, कहीं भगवान्‌के चरणोंका कल्याण-सुखमय स्पर्श होता है और कहीं भगवान्‌का दिव्य अङ्ग-सुगन्ध प्राप्त होता है। इसलिये ये जितने भी मधुरतम पदार्थ हैं, जितने भी भगवान्‌के रसस्वरूप पदार्थ हैं—ये आरम्भसे ही साधनाके अङ्गरूपमें साथ रहते हैं, क्योंकि इन्हींको साथ लेकर साधक रसमार्गपर अग्रसर होता है, इनका त्याग नहीं करता। जहाँ ज्ञानका साधक वैराग्यको भावनासे विषयोका त्याग करता हुआ, जगत्‌को देख-देखकर उससे घबराता हुआ, उसको छोड़ता हुआ, उसे बलात् हटाता हुआ आगे बढ़ता है (और वह सर्वथा उचित तथा युक्तियुक्त ही है), वहाँ इस रस—प्रेमका साधक इनको हटाता नहीं, दूर नहीं करता, मारता नहीं, वह तो बड़े चावसे इन सबको भगवान्‌की सुखसामग्री मानकर साथ लेता चळता है। वह भगवान्‌के शब्दको, भगवान्‌के रसको, भगवान्‌के रूपको, भगवान्‌की अङ्ग-सुगन्धको, भगवान्‌के संस्पर्शको सदा साथ रखता है; क्योंकि यही स्मरण करता है न वह। यही उसकी साधना है और इस प्रकारसे वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन विषयोंको भगवान्‌के सौन्दर्यका पोषक देखकर ही इनका तथा भगवान्‌का सतत स्मरण करता है। वह विषय जगत्‌का और उन विषयोंके त्यागका स्मरण नहीं करता। वह इनके भगवान्‌के द्वारा ग्रहण किये जानेका स्मरण करता है। इसमें यह बड़ा अन्तर है। जगत्‌को दुःखमय जानकर विरक्त होना, उसे छोड़ना—यह दुःखका स्मरण कराता है, भयका स्मरण कराता है। इसमें रहेंगे तो बड़ा भय होगा, बड़ी दुर्दशा

होगी, बड़ा विपाद-शोक प्राप्त होगा, बड़ी हानि होगी, यह बड़ा ही दुःखद है, बड़ा भयानक है—इस प्रकारकी धारणा होती है और उस साधनामें यह आवश्यक और उचित भी है। उस साधनाका यह एक स्वरूप है। विषयोंमें वैराग्य होना ही चाहिये। परंतु यह रागकी साधना वैराग्यकी साधना नहीं है। इसीलिये इसका नाम रागात्मिका, रागानुगा या प्रेमाभक्ति है। इस रागकी साधनामें जगत्की, जगत्के दुःखोकी, उनके त्यागकी स्मृति करनेकी आवश्यकता नहीं है। एकमात्र भगवान्की स्मृतिमें जगत्की आत्यन्तिक विस्मृति हो जाती है। वह केवल भगवान्की स्मृतिको साथ रखकर चळता है। उसे निरन्तर भगवान्के इन पाँचों दिव्य विषयोंका अनुभव होता रहता है। कभी वह भगवान्का मधुर-मनोहर स्वर सुनता है, भगवान् कैसे मीठे बोलते हैं, नन्दबाबासे बोल रहे हैं, यशोदा मैयासे मचल रहे हैं, कौसल्या मैयासे हँस-हँसकर बोल रहे हैं, कितने मीठे हैं। इनके शब्दोंमें कैसा माधुर्य है, ये स्वर कितने—कितने आकर्षक हैं। बेचारे कवियोने स्वर-माधुरी, रूप-माधुरी, गति-माधुरी, वर्ण-माधुरी आदिमें भगवान्के अङ्गोकी पशु-पक्षियोंसे उपमा दी। पर वास्तवमें भगवान्का सौन्दर्य कभी पशुओ-पक्षियोंकी तुलनामें थोड़े ही आता है। वह तो सर्वविलक्षण है। रसमार्गके साधक पहले भावनासे अपने इच्छानुसार मनमाने रूपमें उनकी धारणा करते हैं, यों भगवान् पहले उनकी भावनामें आते हैं। फिर भगवान् उनमें उस भोगके स्थानमें अपने सच्चे शब्दको, सच्चे रसको, सच्चे स्पर्शको, सच्चे रूपको और सच्चे गन्धको प्रकट कर देते हैं। तात्पर्य यह कि इस रसका साधक

चळता है इन्हींको लेकर, इनमें रागको लेकर । भगवान्में रागको लेकर चळना और जगत्में विरागको लेकर चळना—ये साधनके दो विभिन्न स्वरूप होते हैं । दोनों ही अच्छे हैं, दोनोंका फल भी तत्त्वकी दृष्टिसे एक ही तत्त्वकी प्राप्ति है । फलमें तात्त्विक भेद नहीं है, पर भेद इस मानेमें है कि इस रसमें कहीं दुःखका गन्ध नहीं है, दुःखका भय नहीं है, दुःखजनित विषाद नहीं है और कहीं किसी वस्तुके त्यागकी आवश्यकता नहीं है । यहाँ केवल सुख-ही-सुख है, केवल मधुरता-ही-मधुरता है, केवल आनन्द-ही-आनन्द है । सारी वस्तुएँ भगवान्की पूजाकी सामग्री होनेके कारण किसीके त्यागकी आवश्यकता नहीं है । इस रसका साधक प्रारम्भसे ही—पहलेसे ही भगवान्के रागको साथ लेकर चळता है । पूर्वरागके जो लक्षण हैं, उससे यह विदित हो जाता है कि कहीं तो भगवान्की मुरली-ध्वनि सुनकर वह मोहित हुआ, तो उस मुरली-ध्वनिका ध्यान होने लगा । कहीं किसीके द्वारा भगवान्के गुणोंकी चर्चा सुनी तो उससे उन गुणोंका चिन्तन होने लगा । कहीं किसी सखीके द्वारा भगवान्की मधुर लीलाओंका वर्णन सुना, किसी दूत या दूतीके द्वारा, किसी भगवद्भक्तके द्वारा उनकी प्रेमपराधीनताका वर्णन सुना तो उन लीलाओंका स्मरण होने लगा । कहीं भगवान्के अङ्ग-सुगन्धकी चर्चा सुनी—कहीं जा रहे थे, दूरसे सुगन्ध आ गयी, अब वह सुगन्ध तो नहीं रही, पर उसका स्मरण होने लगा । कहीं स्वप्नमें भगवान्के दर्शन हो गये तो वहाँ भगवद्रूपके स्वप्नके दर्शनका स्मरण करता हुआ साधनमें लग गया । अभिप्राय यह कि उसकी साधनामें प्रत्येक

भगवान्‌के विषयमें ही राग रहता है । वह सतन भगवद्‌विषयोंका अनुरागी होकर चळता है और जितने भी भगवद्विषय हैं, सबके-सब परम मधुर हैं, सब परम उज्ज्वल हैं, सब परम सुखस्वरूप हैं, सब परम आनन्दमय हैं । अतः रागकी साधनामें आनन्द-ही-आनन्द है ।

अवश्य ही इसमें एक डर है । वह डर है कि कहीं विषयोंमें —भोगोंमें वह भगवान्‌की चीजको न मान ले । भोगोंके त्यागकी तो आवश्यकता नहीं होती । भोग कहीं पड़े रहते हैं या वे भगवान्‌के भोग्य बन जाते हैं । उसको तो भगवान्‌की आवश्यकता है । वह भगवान्‌को साथ लेकर चळता है, पर कहीं भोगोंमें आसक्ति बनी रहे और भगवान्‌के नामपर कहीं उसका भोगोंमें प्रवेश हो जाय और भोग उसके जीवनपर छा जायँ तो बड़ी भारी दुर्दशा हो सकती है । इसलिये रसकी साधना जहाँ बड़ी मधुर, बड़ी आनन्द-दायिनी है, वहाँ उसमें यह एक बड़ा खतरा है । किंतु वैराग्यकी साधनामें, जहाँ पहलेसे ही विवेकके द्वारा भोग-वैराग्य प्राप्त है, यह खतरा नहीं है । पर उसमें खतरा नहीं है तो वह आनन्द भी नहीं है । हमारे साथ-साथ भगवान्‌ चळें और भगवान्‌के साथ-साथ हम चळें । हम भगवान्‌को देखते चले, सुनते चले, सूँघते चळें, चलते चळें और उनको छूते चळें । कितना बड़ा आनन्द है । चाहे जब भगवान्‌को चख लें, उनका रसास्वादन कर लें, भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त कर लें, भगवान्‌के स्वर सुन लें, भगवान्‌की हम सुगन्धको सूँघें, भगवान्‌के सुन्दर मधुर रूपको देखें । कितनी बढिया चीज है ।

इन चीजोंका रस लेते हुए चले । रसके साधककी यह विशेषता है कि वह इन चीजोंका रस लेता हुआ चलता है और यदि ये सब चीजें भगवान्को लेकर है तो वहाँ भोग आते ही नहीं । क्यों नहीं आते ? इसीलिये कि वहाँ वे रह नहीं सकते—वैसे ही, जैसे सूर्यके सामने अन्धकार नहीं टिक सकता । वास्तवमें यह पवित्र रस-साधन ही ऐसा है, जिसमें इन्द्रियदमन तथा विषयत्यागकी आवश्यकता नहीं होती, वर 'समस्त इन्द्रियाँ और सम्पूर्ण विषय सच्चिदानन्दमय भगवान्का नित्य संस्पर्श प्राप्त करके धन्य हो जाते हैं । पर वस्तुतः मूलमें ही भूल रहती है । प्रारम्भमें ही मामला गड़बड़ रहता है । भगवान्के रसका नाम लेते हैं और होती है भोगलिप्सा । शुरुआतमें—आरम्भमें जब गळती रहती है, तब उसका फल भी वैसा ही होगा । किंतु वास्तवमें जो रसके मार्गपर चढनेवाले हैं, उनके पास भोग आ नहीं सकते । वे तो सदा भगवान्के रागमें सलग्न रहते हैं—वहाँ ये भगवद्विषयक रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श होते हैं । इनके स्थानपर संसारके रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श नहीं आ सकते । इनका प्रवेश उसमें जैसे ही नहीं होता, जैसे वर्षमें गरमी नहीं आती, जैसे अमृतके साथ विष नहीं मिलता । यदि कहीं विष आकर अमृतमें मिले तो अमृत उस विषको खा जायगा, विष भी अमृत बन जायगा । अमृतमें जो शक्ति है, वह शक्ति विषमें नहीं है । अमृत विषमें मिलकर विष नहीं होगा, किंतु विषको अमृत बना लेगा । इसी प्रकारसे संसारके भोग भी भगवद्-रसको कभी दूषित नहीं बना सकते । ये स्वयं वहाँ जाकर पवित्र बन जाते हैं । जो भी संसारका भोग भगवान्के साथ समर्पित हो जाता है, वह

पवित्र बन जाता है । रूप देखना इन्द्रियतृप्तिपर भोगके लिये और रूप देखना भगवान्के पवित्र सौन्दर्य-सुखका आस्वादन करनेके लिये दोनोमे बड़ा अन्तर होता है । अतः भगवान्के साथ सम्बन्धित होनेपर जितने भी दोष हैं,—भले ही उनके नाम काम, क्रोध, लोभ ही रहें,—वे पवित्र प्रेमके ही अङ्ग बन जाते हैं । कहा गया है—
 'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रयाम् ।' गोपाङ्गनाओके 'प्रेम' को 'काम' कहते हैं, पर वह हम लोगोवाला सद्वृत्तिनाशक दूषित काम थोड़े ही है । 'काम' शब्दसे चिढ़ नहीं होनी चाहिये । 'सोऽकामयत्' भगवान्ने कामनाकी,—'एकोऽहं बहु स्याम्,—मैं एकसे ही बहुत हो जाऊँ ।' और हो गये ।

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।'

भगवान्ने अर्जुनसे कहा---

'अर्जुन ! प्राणियोमें धर्मसे अविरुद्ध काम मैं हूँ, धर्मसे अविरुद्ध काम मेरा स्वरूप है ।' अतः 'काम' शब्दसे डरनेकी जरूरत नहीं । काम यदि भगवद्रसकाम हो,—भगवान्के गुणानुवादकी कामना खूब जगे, भगवान्के मिलनकी कामना खूब बढ़े, भगवान्के गुण-श्रवणकी कामना कभी मिटे ही नहीं । ये सब भी काम ही हैं, पर ये काम वह दूषित काम नहीं है । भगवत्काम 'प्रेम' है और विषय-प्रेम 'काम' है । वैसे विषय-प्रेम भी काम है और भगवत्प्रेम भी काम है, पर दोनोमें बड़ा अन्तर है । भगवान्के रसके मार्गमें ये भोग बाधक नहीं हो सकते । ये बाधक वहीं होते हैं, जहाँ मूळमें भूल होती है । इस रसके

मार्गमें पहली चीज है भगवान्में पूर्वाग होना—केवल भगवान्में । जीवनमें ऐसा मौका लगता रहे, जिसमें बाहरी ज्ञान-विज्ञानकी चर्चा न हो, चर्चा हो केवल और केवल अपने श्यामसुन्दरकी, अपने भगवान्के सौन्दर्य-माधुर्यकी—उनके रसकी, उनके स्वरूपकी, उनके रूप-तत्त्वकी । किसीकी बात सुनें, किसीकी बात कहें, किसीकी बात सोचें तो क्या होता है ? उसमें पूर्वाग पैदा होता है । वह यदि भोगोंमें हो गया तो आसक्ति, कामना, क्रोधके क्रमसे सर्वनाशका कारण होगा और वह यदि भगवत्स्वरूपमें हो गया तो वह क्रमशः प्रेमके मार्गमें आगे बढ़ता हुआ महाभावके उच्चस्तरपर ले जायगा । भगवत्स्वरूपमें रागका मार्ग आगे बढ़ेगा सदा निरपदरूपमें । इसमें बाधा नहीं आयेगी । क्यों नहीं बाधा आयेगी ? यह एक बड़ी विलक्षण बात है । भगवान्को किसी वस्तुकी चाह नहीं है, उनको किसी वस्तुकी क्षुधा-पिपासा नहीं है; परंतु यह भगवान्का स्वभाव है कि वे प्रेमरसके भूखे-प्यासे बने रहते हैं । भगवान्को प्रेमकी क्षुधा-पिपासा लगी रहती है, जब कि प्रेमस्वरूप भगवान् ही हैं । जहाँपर भगवान्को विशुद्ध प्रेम-रस मिलता है, वहाँ भगवान् उस रसका आस्वादन करनेके लिये मनका निर्माण कर लेते हैं । महारासरात्रिमें भगवान्ने मनका निर्माण कर लिया रमणके लिये—“रन्तुं मनश्चक्रे ।” वह रमण क्या भोग-रमण था या क्या वह योगियोंका आत्मरमण था ? दोनों ही नहीं, दोनोंकी ही भगवान्को आवश्यकता नहीं । दोनोसे परे भगवान् । यह तो भगवान्का स्वरूप-वितरण था, भगवान्का रसास्वादन था, रस-वितरण था । रस-वितरणमें सुखमय भगवान्को

सुख मित्रता है । यह बड़ी विचक्षण बात है । जो नित्य निष्काम हैं, उनमें कामना उत्पन्न हो जाती है इस प्रेमसे । तो जहाँ प्रेमीजनको भगवान् देखते हैं, वहाँ वे उससे मिलनेको स्वयं आतुर हो जाते हैं और जहाँ भगवान् मिलनेको आतुर हुए, वहीं उसके मार्गके सारे विघ्न—सारी बाधाएँ अपने-आप हट जाती हैं । यह बड़े सुभीतेकी बात है । रसके मार्गमें, यदि यह ठीक रसके मार्गमें चल रहा है तो, वे रसिकशेखर भगवान् स्वयं रस-पानके लिये—रसाखादनके लिये उसको शीघ्र-से-शीघ्र अपनी सनिधिमें बुला लेंगे । मार्गकी दूरीको, मार्गके व्यवधानोको, मार्गके विघ्नोको वे स्वयं सहज ही हट देंगे—अपने-आप, क्योंकि वहाँपर वह भक्त ही नहीं, अपितु स्वयं भगवान् भी भक्तकी भाँति इच्छुक हो जाते हैं रस—मधुर दिव्य रसका पान करनेके लिये । भगवान्में इच्छा पैदा नहीं होती, वे स्वयं ही इच्छा बन जाते हैं । भगवान् सर्वज्ञमर्थ हैं । वे स्वयं इच्छारूप हो जाते हैं । इसलिये यह रसका मार्ग बड़ा विचक्षण है । यह परम पवित्र है—इसलिये कि इसमें प्रारम्भसे ही भोगोकी आसक्तिका अभाव रहता है । तभी तो भगवान्में राग होता है । जिसमें भोगासक्तिका अभाव है, जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ दुःख नहीं, जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ विपाद नहीं और जहाँ भोगासक्ति नहीं, वहाँ भय नहीं । जगत्में तो दो ही चीजें हैं । हजारो-हजारो 'भय'के स्थान हैं, हजारो-हजारो 'शोक'के स्थान हैं—'भयस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च ।' जो प्रिय वस्तु, जो ममताकी वस्तु हमें प्राप्त है, वह कहीं चली न जाय—यह 'भय' हम सबको लगा होता है, और वह वस्तु चली गयी

तो फिर रोना है—शोक है, विषाद है। ये भय और शोक हैं और इन्हींमें सारा संसार डूबा हुआ है। कौन संसार ? जो विषयासक्त है—भोगासक्त है। भोगासक्तिके साथ भय, विषाद, शोक रहेंगे ही। इनसे वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। किंतु जहाँ भगवान्का राग जगता है, वहाँ भोगासक्ति नहीं होती और वह भगवदनुराग बढ़ते-बढ़ते अत्यन्त विशाल भावका—प्रेमका समुद्र बन जाता है। फिर भी उसका बढ़ना बंद नहीं होता; क्योंकि वह उसका सहज स्वभाव है। उस नित्यवर्धनशील महान् रस-सागरमें भक्त-भगवान्—प्रेमी-प्रेमास्पद—दोनों लीला करते हैं। ये लीलामें नित्य दो होकर नित्य एक हैं और नित्य एक होकर नित्य दो हैं। भगवान्का यह विलक्षण रस-साम्राज्य है। वस्तुतः यह रस-साम्राज्य भगवान्से भिन्न नहीं है तथापि सर्वथा भिन्न है। इस रस-साम्राज्यमें जो रसिक नहीं हैं, उनका प्रवेश नहीं होता—वे चाहे महाज्ञानी हो। याज्ञवल्क्य रसके सागरमें नहीं आ सकते, नारद आ सकते हैं, शुकदेव आ सकते हैं। शुकदेव परम ज्ञानी होते हुए भी इस रस-सागरमें डुबकी लगाया करते हैं। इसलिये यह रस-सागर बड़ा अनुपम, अतुल, विलक्षण है। इसमें प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद वस्तुतः एक भगवान् ही होते हैं, पर सदा ही तीन बनकर रसाखादन करते-कराते रहते हैं। यह अनादिकालीन है, अनन्तकालीन है, इसमें कभी विराम नहीं, कभी इसमें रुकावट नहीं, कभी इसका बंद होना नहीं, कभी इसका हास नहीं, कभी इसका विनाश नहीं। यह नित्य नव रूपमें प्रतिक्षण बढ़ता हुआ वर्तमान रहता है।

विलक्षण भाव-जगत्

विषयी और साधकका जगत् अलग-अलग होता है । विषयी और साधकके पथ और लक्ष्य दोनोंमें ही बड़ी विभिन्नता है । विषयीका रुख संसारकी ओर होता है और साधकका रुख भगवान्की ओर ।

शुद्ध विषयी भी भगवान्को भजते हैं । पर वे भजते हैं विषयीकी कामनाको लेकर । इच्छित विषयको पानेके लिये वे सकाम भावनासे भगवान्की आराधना करते हैं । उनकी उस आराधनामें प्रेरणा है विषय-प्राप्तिकी और उसका फल भी संसारके विषय ही होते हैं । भगवान् विषयीकी कामनाको भी पूरा करते हैं और आगे चलकर उसकी सकामताको हर भी लेते हैं । अतः किसी प्रकारसे भी भगवान्से संयोग होना—भगवान्की आराधनामें लगना तो अच्छा ही है; क्योंकि वह आराधना भी अन्तमें भगवत्प्राप्तिकी हेतु बन सकती है—
'मद्भक्ता यान्ति मामपि ।'

पर विषयी व्यक्ति साधक नहीं होता । विषयीकी चाहसे साधककी चाह सर्वथा विपरीत होती है । विषयीको सम्मान-धन प्रिय लगते हैं और वह उनकी कामना करता है, साधकको

सम्मान-धन बुरे लगते हैं और वह उनका विषयत् त्याग करना चाहता है। विषयी जो चाहता है, उसीका साधक त्याग करता है। विषयी चाहता है विषय-सुख और साधक इसीसे दूर भागता है। अभिप्राय यह कि संसारके द्वन्द्वोंमें विषयी प्रिय मानकर जिसे चाहता है, उसीका साधक अप्रिय अनुभव करके त्याग करता है।

भगवान्को जोग अपनी-अपनी आँखोंसे देखते हैं। देखनेकी सबको दृष्टि अपनी-अपनी है। श्रीकृष्णको कंसकी सभामें सबने अपनी-अपनी विभिन्न दृष्टिसे देखा। वे मल्लोंको वज्रके रूपमें, साधारण मनुष्योंको नरश्रेष्ठ, रमणियोंको मूर्तिमान् मदन, गोपोंको खजन, असुरोंको दण्डदाता, वसुदेव-देवकीको बच्चे, कंसको साक्षात् मृत्यु, विद्वानोंको विराट्, योगियोंको परतत्त्व और वृष्णिधोवों परमदेवताके रूपमें दिखायी दिये। इसी तरह विषयी और साधकको भगवान् अलग-अलग दिखलायी देते हैं। विषयीके लिये भगवान् साधन हैं और साधकके लिये भगवान् साध्य हैं। कामी भगवान्से सुख लेना चाहता है और प्रेमी भगवान्को सुख देना चाहता है।

साधकोकी दो श्रेणियाँ हैं, इनके दो प्रधान भेद हैं। एक मुक्तिकामी और दूसरे प्रेमी। एकमें अहंके मङ्गलकी कामना है और दूसरेमें अहंकी सर्वथा विस्मृति है।

मुक्तिका अर्थ है—छुटकारा। बन्धनके अभावमें छुटकारेका कोई अर्थ नहीं, कोई स्वारस्य नहीं। अतः मुक्ति चाहनेवाला किसी

बन्धनमें है, जिससे छुटकारा चाहता है। मुमुक्षुमात्र, कहीं भी हो, कैसा भी हो, कभी भा हो, बन्धनसे छूटना चाहता है। जितनी तीव्र लालसा होगी, छुटकारा पानेकी जितनी उत्कट उत्कण्ठा होगी, उतनी ही उसकी मुमुक्षा—मोक्षकी इच्छा मुख्य तथा अनन्य होगी और उतनी ही जल्दी उसे स्वरूपकी प्राप्ति होगी। अतः जो बन्धनसे मुक्ति चाहता है वह मुक्तिकामी है। अहं बन्धनमें है। मुक्तिकामी बन्धनसे मुक्त होकर अपने अहंका मङ्गल चाहता है। यह ज्ञानकी साधना है और बड़ी ऊँची साधना है। षट्-सम्पत्तिकी प्राप्तिके बाद मुमुक्षुत्वकी जागृति होती है और फिर आत्मसाक्षात्कार स्वरूपकी प्राप्ति।

दूसरा वर्ग प्रेमी साधकोका है। ज्ञानोत्तर कालमें और सीधे भी यह स्थिति प्राप्त हो सकती है। प्रेमी साधक मुक्ति नहीं चाहता, पर वह संसारके बन्धनमें भी नहीं रहता। जगत्के बन्धनसे मुक्त ही भगवत्प्रेमी होता है। उसके पवित्र प्रेमके एक झटकेमें ही सारे बन्धन सदाके लिये टूट जाते हैं। फिर भी वह बन्धनमें रहता है। उसका यह बन्धन है—प्रेमका बन्धन, जो नित्य मुक्तस्वरूप भगवान्को उसके साथ बाँधे रखता है।

भगवान् विरुद्ध गुण-धर्माश्रयी हैं। उनमें युगपत् विरोधी धर्मगुण है। वे निराकार होकर भी साकार हैं। कठोर होकर भी अत्यन्त कोमल है। अजन्मा-अविनाशी होते हुए भी जन्म लेते और अप्रकट होते हैं। ब्रजसे जाकर भी ब्रजसे बाहर नहीं गये। भगवान्के सिवा ऐसा कोई नहीं है, जिसमें एक साथ विरुद्ध गुण-

धर्म रहते हों । इसी तरह भगवान्‌के प्रेमी भी विरुद्ध गुण-धर्माश्रयी होते हैं । वे नित्य मुक्त होकर भी नित्य बन्धनमें रहते हैं और उस बन्धनसे कभी छूटना नहीं चाहते ।

प्रेमीको किसी प्रकारका सांसारिक बन्धन नहीं है । जो संसारके किसी प्रकारके बन्धनमें है, वह प्रेमी नहीं । जो संसारके भोगोंके साथ-साथ पवित्र भगवत्-प्रेम प्राप्त करना चाहते हैं, वे भूलमें हैं, भ्रममें हैं । प्रेम-पथपर पैर रखते ही सारा संसार समाप्त हो जाता है । सारी सांसारिक कामनाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, फिर सांसारिक बन्धन कैसा ? प्रेमीके एकमात्र बन्धन भगवान्‌का है । प्रेमी भगवान्‌के साथ प्रेम-रज्जुसे बँध जाता है । भगवान् नित्य मुक्त हैं, भगवान्‌में बन्धनकी कल्पना नहीं, वे भगवान् स्वयं लालसायुक्त होकर प्रेमीके बन्धनमें रहते हैं । उस बन्धनमें सुखस्वरूप भगवान्‌को सुख मिलता है । यह सुखस्वरूपका सुख-विकास है । यह प्रेमका बन्धन नित्य, असीम और अनन्त है ।

इस प्रेमके अनेक स्तर हैं, अनेक स्वरूप हैं । प्रेमीमें एक पवित्र विलक्षण प्रेम-जगत् लहराता रहता है । वह बड़ा विचित्र है । इस प्रेम-जगत्‌का जो नित्य मिलन है—वह है सर्वथा भावमय ।

यह 'भाव' भावनामय—कल्पनामय नहीं है, ध्यानजनित व्येयाकार वृत्ति-जगत् नहीं है, अज्ञानमें स्थित कोई वस्तु नहीं है, पाञ्चभौतिक नहीं है, क्रियाशून्यता नहीं है । इसका एक-एक रहस्य समझनेयोग्य है, सब अर्थ-गर्भ है । लोग कहते हैं 'प्रेमी तो केवल

कल्पनाके जगत्में रहता है, वस्तुतः उसको भगवान् मिलते नहीं । वह केवल भगवान्की भावना भर करता रहता है ।' किंतु कल्पना या भावना तो मायाकी चीज है और भगवान् मायासे अतीत हैं । अतः यह भाव-जगत् माया-जगत्की वस्तु नहीं : इसी प्रकार ध्येयाकार वृत्तिको ध्यान कहते हैं । जबतक वृत्ति टिकी है तबतक भाव-जगत्का अस्तित्व स्वीकार करें और जब वृत्ति हट जाय तो भाव-जगत्का अस्तित्व समाप्त हो जाय । ऐसी बात इस भाव-जगत्के साथ नहीं है । इससे वृत्तिका सम्बन्ध नहीं, क्योंकि वृत्तिजनित मानसमात्र नहीं है । सत्य है—नित्य है । इसी प्रकार यह भाव-जगत् पाञ्चभौतिक नहीं । पाञ्चभौतिक वस्तु अनित्य है और भाव-जगत् नित्य है । अवश्य ही भाव-जगत्की सारी चेष्टाएँ—भावनाएँ प्राकृत जगत्के समान दिखायी देती हैं और प्राकृतिक शब्दोंसे, नामोंसे ही उनका निर्देश किया जाता है, परतु वास्तवमें वे अप्राकृतिक हैं, भगवत्स्वरूप है ।

ब्रजकी जितनी लीला हैं, सारी भगवान् श्रीकृष्णके ११ वर्षकी उम्रसे पहले-पहलेकी है । ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आया है कि मथुरासे जानेके बाद १०० वर्षोंतक गोपाङ्गनाओसे श्रीकृष्णकी भेंट नहीं हुई । मथुरा थी ही कितनी दूर, परंतु न तो गोपियाँ मथुरा गयीं और न भगवान् श्रीकृष्ण ब्रजमें आये । गोपियाँ क्यों आर्या नहीं और श्रीकृष्ण क्यों नहीं गये : केवल इसीलिये कि वहाँ स्व-सुखकी कल्पना नहीं, त्याग-ही-न्याग है । प्रियतम-सुख ही सर्वस्व है । गोपियाँ विरहसे अत्यन्त व्याकुल हैं, उनमें अत्यन्त मिलनोत्कण्ठा है, फिर भी गोपियाँ नहीं गयीं । तो क्या फिर मिलन हुआ ही नहीं ?

सच बात तो यह है कि उनके प्रियतम श्रीकृष्णका उनसे कभी वियोग ही नहीं हुआ । अन्तर केवल इतना ही हुआ कि ११ वर्षकी उम्रके बाद प्राकृतिक—पाञ्चभौतिक जगत्के अनुरूप दीखनेवाली लीला नहीं हुई । भगवान् सर्व-समर्थ हैं, चाहते तो वह भी कर सकते थे, किंतु लोक-संग्रहके लिये. आदर्शकी प्रतिष्ठाके लिये उसे नहीं किया । भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे गीतामें कहा है कि तीनो लोकोंमें मेरा कोई कर्तव्य न होने तथा मुझे कुछ भी प्राप्त करनेकी अपेक्षा न होनेपर भी लोकसंग्रहके लिये मैं विहित कर्म करता हूँ । इसी कारण पाञ्चभौतिक जगत्के अनुरूप दिखलायी देनेवाली लीला मथुरा जानेके बाद उनमें दिखायी नहीं दी, अन्यथा, वहाँ तो नित्य लीला-विलास चलता ही रहता है । गोपियोंके परम प्रियतम श्रीकृष्ण भावरूपसे निरन्तर उनके पास रहे, वे ब्रजसे गये ही नहीं । परंतु यह सब लीला अधिकारियोंके लिये ही थी । अतः बाहर इनका प्रकाश नहीं था । शिशुपालने भगवान् श्रीकृष्णको गाली दी; किंतु उसने इस गोपीप्रेमकी बात नहीं कही । शिशुपालवाले जगत्को ब्रजके भाव-जगत्की बातका ज्ञान ही नहीं था । हाँ, द्रौपदीको कुछ-कुछ पता था । कौरव-सभामें विवस्त्र होते समय रक्षा पानेके लिये द्रौपदीने अपनी प्रार्थनामें 'द्वारकावासिन्'के साथ-साथ 'गोपीजन-प्रिय' भी सम्बोधन किया था । यह महाभारतकी चीज है ।

ब्रजकी गोपियोंमें भाव-जगत्का नित्य एवं निरवधि विलास है । भाव-जगत् ऐसा है जहाँ कभी वियोग है ही नहीं । यह परम सत्य है कि भगवान् मिलकर कभी विछुड़ते नहीं । मिलकर विछुड़नेका क्रम प्रापञ्चिक जगत्की वस्तुका है ।

भाव-जगत्में विलुङ्गनेकी कल्पना ही नहीं । भाव-जगत्में आमिलन-की जो लीला होती है, वह भी मिलनकी ही एक तरंग है । त्यागमय प्रेमकी पराकाष्ठापर नहीं पहुँचे हुए साधकोंको वह लीला नहीं दिखलायी देती । जहाँ मुक्तिका भी परित्याग हो जाता है वहाँ इस लीलाका विकास होता है । उसके अधिकारी अलग-अलग हैं ।

भगवान् श्रीरामने अपनेको भगवान् कहा है, पर छिपे-छिपे । भगवान् राम मर्यादाका अधिक ख्याळ रखते हैं । कहीं देवताओंके सामने, कहीं ऋषियोंके सामने भगवान् रामने अपनेको भगवान् कहा है, परंतु भगवान् श्रीकृष्णने तो बारंबार स्पष्ट कहा है । द्वारकामें श्रीकृष्ण भगवान् होकर भी द्वारकापति हैं । जहाँ ऐश्वर्य है, वहाँ वे मर्यादानुकूल कार्य करते हैं । द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णकी आदर्श दिनचर्या है । वे उषाकालमें शय्या त्यागकर ध्यान करते हैं । स्मृतियोंके अनुकूल शौच-स्नान करते हैं, सध्या करते हैं, अग्निहोत्र-गोदान करते हैं, अपने माता-पिताको प्रणाम करते हैं । जहाँ जैसी लीलाका प्रयोजन है, तदनुरूप आचरण करते हैं । जिस तरह प्रेमियोंके प्रेम-जगत्में प्रेमरसास्वादनके लिये प्रेमास्पद भगवान्का अवतरण होता है, वैसे ही लोकमें धर्मकी स्थापनाके लिये उनका अवतरण होता है । गीतामें कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

साधुका परित्राण, पापका विनाश और धर्मकी स्थापनाके लिये भगवान् अवतार लेते हैं। जब जैसी लीला होती है, भगवान् वैसे बन जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी दामोदरलीलामें काम, क्रोध, लोभ, भय, पलायन, बन्धन सभी हैं और सच्चे रूपमें हैं। यह सब भगवान् श्रीकृष्णका न नाटक है, न मिथ्या विलास है और न दम्भ है। जैसी लीला करनी होती है, वे स्वयं ही वैसे ही बन जाते हैं। जिस समय ब्रह्माने बछड़ोको तथा गोपबालकोंको चुरा लिया, उस समय भगवान् क्या-क्या नहीं बन गये : रस्सी, बछड़े, बालक, उनके कपड़े, काली कमली, जूती, लकुटी—सभी कुछ तो बने। भगवान् रासमें अगणित रूपोंमें प्रकट हो गये। यह रास भगवान्का अपनेमें अपना ही रसाखादन है और है प्रेमियोंमें स्वरूपभूत रसका वितरण। यह भोगियोका भोगरमण नहीं, यह योगियोका आत्मरमण नहीं, यह है प्रेमस्वरूप रसस्वरूप भगवान्का रस-वितरण तथा रसा-खादन-विलास।

रासमण्डलमें प्रवेश पानेके लिये देवता तथा ऋषियोंको गोपी बनना पड़ा। आकाशमें देवता और देवपत्नियाँ थीं, पर क्या वे रासकी अन्तरङ्ग सभी लीला देख पायीं : अर्जुनको अर्जुनी बनना पड़ा। अर्जुनको इच्छा हुई कि इस प्रेम-जगत्का उन्हें दर्शन मिले। पहले तो भगवान् श्रीकृष्णने टलाया। बहुत आग्रह करनेपर मन्त्र बताया, उसका जप करना पड़ा, कात्यायनीकी उपासना करनी पड़ी, प्रेम-हृदमें स्नान करना पड़ा, फिर गोपीका रूप मिला, फिर सखी अर्जुनीको निकुञ्जमें ले गयी। अर्जुनी केवल एक रात ही

वहाँपर रह पायी । पुनः हृदमें स्नान कराया गया, वे तुरंत अर्जुन बन गये और वापस भोज दिये गये । शिशुपाल आदिको इस रासका पता नहीं था, हाँ, भीष्मजीको थोड़ा-थोड़ा ज्ञान था । केवल अन्तरङ्ग लोंगोंको ही इसका पता था ।

त्रियोगमें भी भगवान्का मिलन रहता है । भगवान्की त्रियोगलीला-मे नित्य सयोग रहता है । प्रेमीसे पूछा जाय क्या चाहते हो, मिलन या त्रियोग । तो सच्चा प्रेमी विरह ही माँगता है । संयोगमें समय, स्थान, मर्यादा आदिके अनेक बन्धन हैं, पर त्रियोगमें तो नित्य-निर्बाध मिलन है । भगवान्को कहींसे आना नहीं पड़ता । वे तो नित्य सर्वत्र विराजमान हैं । प्रेमी भक्तका हृदय उनका अनन्त प्रलोभनीय प्यारा आवास है । वे त्रियोग देते हैं विशेष रसास्वादनके लिये—प्रगाढ़ रसास्वादनके लिये । वस्तुतः देखा जाय तो प्रेमी साधकको त्रियोग होता ही नहीं ।

प्रेममें भुक्ति-मुक्तिकी कोई आकाङ्क्षा होती ही नहीं । आकाङ्क्षाकी आपूर्तिमें दुःख होता है, क्योंकि उससे मनमें एक प्रतिकूलताका उदय होता है । वही दुःख है । प्रेम-जगत्में प्रतिकूलता होती ही नहीं । प्रेममें जो कहीं प्रतिकूलताकी लीला होती है, वह वस्तुतः महान् अनुकूलताकी एक लहर मात्र है, क्योंकि उस प्रतिकूलतामे प्रियतमका सुख निहित है जो परम अनुकूलताका स्वरूप है । मिलन और विरहके रूपमें ये तरंगे उठनी-गिरती रहती हैं । भूख बिना भोजनका मजा क्या ? विरहके बिना मिलनका आनन्द क्या ? विरह और मिलन प्रेम-सरिताके दो तट हैं । इन्हींके बीचमें यह सतत

प्रेमास्पद-सागरकी ओर प्रवाहित है । प्रेमास्पद प्रेमीके पाससे जाते ही नहीं । एक प्रेमिका गोपीने उद्धवसे अपना अनुभव बताया—‘लोग भले कहें, पर मुझे तो प्रियतम कहीं जाते दोखते ही नहीं । लोग कहते हैं कि गये, पर वे तो सदा मेरे पास हैं । मैं अपने प्रत्यक्ष अनुभवके सामने दूसरोकी बात कैसे मानूँ ! अब भ्रम किसको है, मुझको या लोगोको ? लोगोको ही है । मैं तो नित्यमिलनानन्दका रस लेती हूँ ।’ विरहकी अनुभूति तत्त्वतः सुखरूप है !

प्रेमी मुक्तिकामो नहीं होता, क्योंकि प्रेममें अनन्त जीवन है और अनन्त सुख है । इस प्रेम-जीवनमें न कमा होती है और न रुकावट आती है । ज्ञानीके लिये जो प्राप्त करना था, वह प्राप्त हो गया । अब उसे कुछ भी करना-पाना नहीं—‘तस्य कार्यं न विद्यते ।’ किंतु प्रेमीके जीवनमें प्रेमधारा सर्वदा बहती रहती है और बहती ही रहेगी । उस धारामें निरन्तर अधिकाधिक तीव्रता, मधुरता और उज्वलता आती रहेगी ।

प्रेमीमें यदि वस्तुतः कोई क्षोभ होता है तो अवश्य मानना चाहिये कि उसके अन्दर स्व-सुखकी कोई वासना अवश्य है । किसी कामनासे ही विशोभ उत्पन्न होता है । अवश्य ही कोई चाह है, भले ही वह छिपी हो । वास्तवमें प्रेमी प्रत्येक द्वन्द्वमें पवित्र लीलानन्दका अनुभव करता है । वह सतत लीला-समुद्रमें निमग्न रहता है । प्रेमीके जीवनमें प्रत्येक चेष्टा सहज ही भगवत्प्रीत्यर्थ होती है ।

जो भगवान्‌के प्रतिकूल हो, वही अविधि है और जो भगवान्‌के अनुकूल हो वही विधि है । यहो भाव-जगत्‌का 'विधि-निषेध' है । वस्तुतः वहाँ सब कुछ भगवान्‌के मनका ही होता है । अवश्य ही मनरहित भगवान्‌में मनका पत्रित्र निर्माण प्रेमियोंमें दिव्य सुख-वितरणके लिये ही होता है । प्रेमोके मनमें वही बात आती है जो प्रेमास्पदके मनमें है । जहाँ अन्तरङ्गता होती है, वहाँ प्रेमास्पदकी बात प्रेमीमें आने लगती है । मनमें स्वतः स्फुरित होने लगती है । फिर उसे कुछ कहना नहीं पड़ता । भगवान्‌ श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है—

मन्महात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम् ।

जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः ॥

मेरे मनकी बात तो तत्त्वसे केवल गोपियाँ ही जानती हैं । परम प्रेमास्पद भगवान्‌के मनमें क्या है, इसको बस, सर्वत्यागी परम प्रेमी जानता है और जानकर वह प्रेमी वही बोलता है, वही करता है । वही उसकी विधि है, भाव-जगत्‌में शास्त्र देखनेकी पुरसत किसको है, कौन देखता है ? तो क्या उनके आचरण शास्त्र-विरुद्ध हैं ? नहीं । प्रेमीका प्रत्येक विचार तथा कर्म सहज ही भगवान्‌के अनुकूल, भगवान्‌के प्रीत्यर्थ होता है । वही तो शास्त्रका साफल्य है । वही तो शास्त्रका फल है । अतः प्रेमी जो करता है, वही विधि है, वही शास्त्र है । प्रेमीके अन्दर लौकिक प्रपञ्च नहीं है, कोई भी जागसिक वासना नहीं है । उसके अन्दर भगवान्‌ हैं । उसकी चेष्टा, उसकी वाणी भगवान्‌की चेष्टा और वाणी है । वह तीर्थोंको तीर्थ बनाता है । जहाँ ऐसे प्रेमी संत रहे, वे तीर्थ बन गये । उन्होंने

जो कुछ कहा वही शाख बन गया और जो आचरण किया वही शाखकी विधि बन गयी ।

शाखकी अन्य किसी विधिका बन्धन वहाँ नहीं है, क्योंकि वहाँ शाखकी विधिका फल फलित हो चुका है । जो पवित्र प्रेम प्राप्त कर चुके हैं, उनपर शाखका बन्धन नहीं है । जबतक यह स्थिति नहीं धाती है, तबतक शाखकी प्रत्येक विधि लागू होगी । जो वासनावृद्ध मनुष्य प्रेमके नामपर शाखकी मर्यादाका उल्लङ्घन करते हैं, विधिकी अवहेलना करते हैं, उनको धवश्य ही सावधान हो जाना चाहिये । भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा किया तो हम भी ऐसा ही करें । यह मानना ठीक नहीं । भगवान्के सब आचरण अनुकरणीय नहीं हैं । भगवान्ने दावानल पान किया, क्या हम भी पान कर सकेंगे । भगवान्ने सात दिनोंतक कनिष्ठिका अङ्गुलिपर गोवर्धन धारण किये रक्खा । क्या हम एक घंटे भी एक सेरका पत्थर भी अङ्गुलिपर रखकर खड़े रह सकते हैं ? कलाकके घरकी शराब और सुनारके यहाँ ढलाईघरका तप्त गला हुआ शीशा शंकराचार्यजी पी सकते हैं पर क्या सभी पी सकते हैं ? इसीलिये भगवान्के आचरणोंका अनुकरण नहीं, उनके आज्ञानुसार व्यवहार करना चाहिये । तैत्तिरीय उपनिषद्में आया है । भलीमूर्ति वेदाध्ययन सम्पन्न करानेके बाद आचार्य अपने विद्यार्थियोंको शिक्षा देकर कहते हैं—

‘यान्यस्माकं सुचरितानि, नानि

त्वयोपास्यानि नो इतराणि’

‘हमारे आचरणोंमें भी जो-जो अच्छे आचरण हैं, तुमको

उन्हींका सेवन करना चाहिये । दूसरोंका कभी नहीं ।’ अतः

गोपियोंकी नकल कभी नहीं करनी चाहिये । विशुद्ध प्रेमके नामपर मोहवश कभी भी अपनी वासनाको पूरी करनेका प्रयास नहीं करना चाहिये । असलमें साधकको तो विषयीसे उलटे चलना है । श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े ही सुन्दर सुकोमल-वदन थे । पर जब संन्यास ले लिया तो उन्होंने कठोर नियमोका पालन किया और करवाया । श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े रसिक भी थे । जयदेवजोका गीत-गोविन्द सुना करते थे, पर साथ ही बड़े संयमो थे । श्रीरूप-स्नातन आदि रसशास्त्रके महान् ज्ञाता थे । उन्होंने इसपर अनोखे ग्रन्थ लिखे हैं, पर साथ ही वे महान् विलक्षण त्यागी और विरक्त थे । छतएव इनसे हमें संयमकी शिक्षा लेनी चाहिये तथा संयमकी बात अपनानी चाहिये । चैतन्य महाप्रभुने अपने शिक्षाष्टकमें बताया है कि भगवान्के कीर्तनका कौन अधिकारी है ? जो राहमें पड़े हुए तिनकेसे भी अपनेको नीचा मानता हो, जो वृक्षसे भी अधिक सहनशील हो और जो मान न चाहकर दूसरोको मान देता हो, उसीके द्वारा भगवान्का कीर्तन होता है और उसीको भगवान् मिळते हैं ।

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना ।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥

प्रेमके पवित्र क्षेत्रमें इन्द्रिय-भोगको स्थान नहीं है । भाव-जगत्में भोगको स्थान है, पर उसी पवित्र भोगको जो 'तत्सुखसुखित्वम्'से अनुप्राणित हो । गोपियोंके जीवनमें भोग है, पर वह देवल प्रेमास्पद श्रीकृष्णके लिये है । वहाँ रागका एकमात्र

विषय हैं श्रीकृष्ण । वहाँपर अनन्य अनुराग है । इतर रागके लिये स्थान नहीं । गोपियोंमें स्वाभाविक ही विषय-वैराग्य है । भगवान्के चरणानुरागमें सभी आसक्तियोंका अभाव हो गया है । साधकके लिये विशेष सावधानीकी आवश्यकता है ।

साधकको जहाँ उसका साधन भारी मालूम होता है, उसमें मन ऊबता है, मनको बल लगाना पड़ता है और जो साधन सुखमय नहीं लगता, वह जबरदस्तीका साधन बहुत दिनोंतक टिकता नहीं । जिस साधनमें हर्ष होता है, सहज प्रसन्नता होती है, मनमें उमंग रहती है; उसीसे लाभ होता है । अन्यथा तमोगुण आ सकता है । फिर भी अच्छा काम जबरदस्ती किया जाय तो वह भी उत्तम ही है । पर मनसे हो, चावसे हो तो बहुत उत्तम । थोड़ा करे, पर उत्साहके साथ करे । सात्त्विक उत्साहसे किया गया साधन अधिक लाभकारी होता है ।

भाव-जगत्के सम्बन्धमें आज संकेतसे कुछ कहा गया है । यह परम रहस्य है । ब्रजकी गोपियोंकी रासलीला भाव-जगत्की लीला है । भागवतमें स्पष्ट लिखा है—

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्

खान् खान् दारान् ब्रजौकसः ॥

(१० । ३३ । ३८)

गोपियाँ गर्व्याँ, पर गर्व्याँ नहीं । सब गोपोंने स्पष्ट देखा कि
की पत्नियाँ उनके पास घरमें सो रहीं हैं । वे गर्व्याँ ही नहीं ।
गोपियोंका पाञ्चभौतिक शरीर घरपर ही रहा । रासमें गोपियोंका

पवित्र चिन्मय नित्य सत्य भाव-वपु गया था । रास भावमयी गोपियों-की भावमयी लीला है, पूर्णतः भाव-जगत्की लीला है ।

यह भाव-जगत् अत्यन्त ही गुह्यतम, रहस्यमय और उच्चतम साधना-लब्ध है । यह बड़ी ऊँची स्थितिकी चीज है । ऊँची-से-ऊँची साधनाकी चीज है । जहाँतक अपनी कल्पना पहुँचे, कीजिये । उतना ही सत्यका अनुभव होगा । अनन्त रसमय सत्यका अनुभव होगा । इस रसका वहाँ अन्त नहीं है । नयी-नयी अनुभूतियोंकी उपलब्धि होगी । 'प्रतिक्षणवर्धमानम्' यह रस प्रतिक्षण वर्धमान है । भाव-जगत्में आनन्द-ही-आनन्द है, सुख-ही-सुख है, रस-ही-रस है । भगवान् ही रस हैं—'रसो वै सः' और कहीं रस है नहीं । रसके नामपर सत्र ओर अरस (रसहीनता) है, कुरस (कुत्सित रस) है और विरस (विपरीत रस) है । हम रस मान लेते हैं, रसके बढले आग पी लेते हैं और जलते रहते हैं । रसकी शीतलताके बदले जलन मिलती है । जहाँ रस है वहाँ भगवान् हैं और जहाँ भगवान् हैं वहाँ रस है । भाव-जगत्में रस-ही-रस है । यह भाव-जगत् न पाञ्चभौतिक है, न मानसिक है, न काल्पनिक है न औपचारिक है, न नाटकीय है न केवल चिदानन्दाद्वैतमय है और इसे कामविलास मानना तो घोर पाप तथा पूर्ण भ्रम है । यह प्रेममय भगवान्का रस-वितरण है । यह पवित्र रसार्णव है, जिसका अवतरण केवल ब्रजमे ही हुआ और ब्रजकी गोपियोंमें ही हुआ—

'यथा ब्रजगोपिकानाम्' ।

चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुर फल—भगवत्प्रेम

‘भाव’ जब चित्त-प्रदेशमें निश्चल हो जाता है, तब वह ‘स्थायिभाव’ कहलाता है। वैष्णवशास्त्रोंके अनुसार ‘कृष्णरति’ या ‘भगवद्रति’ ही ‘स्थायिभाव’ है। भगवद्रतिका प्रत्येक ‘स्तर’ ‘स्थायिभाव’ ही है, परतु वह एक ही भाव चित्तवृत्तिके भेदसे विभिन्न रूपोंमें प्रकाशित होता है। आचार्य भरतने रसके आठ विभाग किये हैं—शृङ्गार, वीर, भयानक, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत, करुण और हास्य। किसी-किसीने ‘शान्त’ रसको नवाँ भाव माना है। वैष्णव-महात्माओंने भगवद्रसके रूपमें रसोका विभाजन करते हुए रति या स्थायिभावके पाँच भेद किये हैं—‘शान्ति’, ‘प्रीति’, ‘सख्य’, ‘वात्सल्य’ और ‘माधुर्य’ (प्रियत्व)। इन पाँच स्थायिभावोंके विकासमें पाँच रसोंका उदय होता है। वे हैं—शान्त, दास्य,

९५ चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुर फल—भगवत्प्रेम

सख्य, वात्सल्य और माधुर्य । यह अनिवार्य नहीं है कि इनका क्रम विकास ही हो, पर यह निर्विवाद है कि अगले-अगले रसमें पिछले-पिछले रसकी निष्ठा अवश्य रहती है । जैसे आकाशादि पञ्चभूतोंके गुण अगले-अगले भूतोंमें वर्तमान रहते हैं, वैसे ही इस क्षेत्रमें भी रसोंकी स्थिति होती है । जैसे पृथ्वीमें पाँचों गुणोंकी स्थिति है, वैसे ही माधुर्यमें शान्त-दास्यादिके समस्त गुणोंकी विद्यमानता है । नीचेके उदाहरणसे समझिये—

आकाश या व्योममें—शब्द एक गुण है ।

वायु या मरुत्में—शब्द, स्पर्श—दो गुण हैं ।

अग्नि या तेजमें—शब्द, स्पर्श, रूप—तीन गुण हैं ।

अप् या जलमें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस—चार गुण हैं ।

क्षिति या पृथ्वीमें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पाँच गुण हैं । इसी प्रकार शान्तादि रसोंको समझना चाहिये ।

शान्तरस—निष्ठामय है ।

दास्यरस—निष्ठा और सेवामय है ।

सख्यरस—निष्ठा, सेवा और विश्रम्भ (संकोच-शून्यता) मय है ।

वात्सल्यरस—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ और ममतामय है ।

माधुर्य—निष्ठा, सेवा, विश्रम्भ, ममता और सम्पूर्ण आत्म-समर्पणमय है । इनमें सर्व प्रथम है—शान्तरस ! इसकी आधारभूता है—स्थायिभावकी शान्तिरति । शान्तिका अर्थ 'शम' है । श्रीमद्भागवतके अनुसार 'भगवान् श्रीकृष्णमें निरन्तर अनुराग होना ही'

‘शम’ है और ऐसा अनुराग जहाँ होता है, वहाँ लौकिक-पारलौकिक भोग-विषयोंमें विराग होता ही है । भगवान्में एक ऐसी निष्ठा होती है, जिससे विषय-भोगोंमें विरति स्वयमेव हो जाती है । ऐसे शान्तरसके भक्तके जीवनद्वारा भगवान्की भक्तिकी आनन्ददायिनी धारा बहती रहती है । शान्तरसके भक्तमें भगवान्में निर्बाध निष्ठा, समस्त ढैवी सम्पदाके गुणोंका समावेश, इन्द्रिय और मनपर विजय, दोष-दुर्गुणोंका अभाव, तितिक्षा, श्रद्धा, निष्कामभाव, दृढ़ निश्चय आदि गुण स्वभावगत होते हैं । यहाँ भोगवासना और भोगासक्तिका अभाव होता है । इसी शान्तरसकी मूल भित्तिपर ‘विशुद्ध भगवत्प्रेमका’ महान् प्रसाद निर्मित होता है ।

पर इस शान्तरसमें भगवान्के साथ कोई व्यक्तिगत सम्बन्ध नहीं रहता । इसीलिये रसके आरोहण-क्रमकी दृष्टिसे वैष्णव महानुभावोंने शान्तरसको सबसे नीचा स्थान दिया है । इसका विकास होनेपर एक प्रीतिरसका उदय होता है, जो इसके ऊपरकी अवस्था है । उसे दास्यरस कहते हैं । ‘प्रेम’ की यह आरम्भिक अवस्था है ।

इस भावके भक्तकी निरन्तर यह भावना रहती है कि मैं भगवान्का अनुग्राह्य हूँ, अनुग्रहका पात्र हूँ । अनुग्रह-पात्र ‘दास’ भी हो सकता है अथवा ‘छात्र’ भी । अतः इस रसमें दो प्रकारके मनुष्य हो सकते हैं—‘सम्भ्रमप्रीति’ और ‘गौरव-प्रीति’ ।

इनमें ‘दास’ भक्त अनुग्रहका पात्र होनेके कारण अपनेको भगवान्से बहुत ही नीचा समझता है और भगवान्की कृपा-प्राप्तिके

१७ चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुर फल—भगवत्प्रेम

लिये उनको प्रसन्न करना अपना कर्तव्य समझता है। इससे 'सम्भ्रम'का भाव उत्पन्न होता है। 'सम्भ्रम'मे भगवान्के प्रति भक्तका पराया भाव होता है। वह सदा ही अपने-आपको अत्यन्त हीन समझकर भगवान्की सेवा करनेको समुत्सुक रहता है। कभी संकोचरहित नहीं हो सकता और सदा उनके अनुग्रहकी इच्छा करता है। यही 'सम्भ्रम-प्रीति' है।

'गौरव-प्रीति'-युक्त भक्त अपनेको सदा भगवान्के द्वारा रक्षित और लालित-पालित होकर रहनेकी सतत कामना करता है। यह तो परम सत्य है ही कि परम पुद्गल अखिल-विश्व-ब्रह्माण्डनायक भगवान् ही चराचर प्राणि-पदार्थमात्रके रक्षक और पालक हैं। परंतु धर्मके क्षेत्रमें उपास्य और उपासकमें प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना आवश्यक है। धर्मक्षेत्रमें व्यक्तिगत भावना और कामनाका एक विशिष्ट स्थान है। ये भावना-कामनाएँ प्रत्येक मनुष्यके मनमें होती हैं—पर वे प्रायः सुप्त रहती हैं। अनुकूल सगादिके द्वारा उनकी अधिकाधिक अभिव्यक्ति होती है। तब वह भक्त इस भावनामें निमग्न हो जाता है कि भगवान् मेरे रक्षक, पालक तथा विधाता हैं। एकमात्र श्रीकृष्ण ही मेरे प्रभु और रक्षक है। इसीको शास्त्रोंमें 'गौरव' कहा है। इस भावमें जिस विचारसे सुख मिलता है, उसे 'गौरव-प्रीति' कहते हैं। यही 'अनन्यभाक् भजन' है।

'दास' भक्तोंके चार प्रकार माने गये हैं—१—अभिकृत, २—आश्रित, ३—पारिपदू और ४—अनुग। 'अभिकृत' दासभक्तोंमें ब्रह्मा, इन्द्र, कुवेर, वरुण आदि मुख्य माने जाते हैं। 'आश्रित'

९९. चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुरफल—भगवत्प्रेम

परंतु इस दाम्बरसमें एक कमी है, जो दासके द्वारा ऐसे कर्म-आचरण नहीं होने देती, जिनसे भगवान् श्रीकृष्णको विशेष आनन्द प्राप्त हो। वह है—अपनेमें हीनता, दीनता और मर्यादाका भाव, जो सदा ही जाग्रत् रहता है और सदा ही सम्भ्रम-संकोचका उदय कराता रहता है। अतएव इससे भी आगे 'सख्यभाव'में पहुँचना है। सख्यका स्थायिभाव 'सख्य-रति' है। सख्य होता है—दो समान गुणधर्मा मनुष्योंमें। उसमें समानताके भावकी प्रीति होती है, इससे भक्त अपनेको दीन-हीन नहीं समझता और परस्पर गुप्त-से-गुप्त रहस्यकी बात भी छिपायी नहीं जाती। दास्यरसके मर्यादा-संकोच-सम्भ्रमका प्रतिबन्ध इसमें नहीं है, न उतना मान-सम्मान है।

सख्यरसके भक्तोंके भी दो भेद हैं—

'पुरसम्बन्धी' (ऐश्वर्यज्ञानयुक्त) और 'ब्रजसम्बन्धी' (विशुद्ध भक्तिमय)। अर्जुन, भीम, द्रौपदी, उद्धव, सुदामा ब्राह्मण आदि 'पुरसम्बन्धी' भक्त हैं। ब्रजसम्बन्धी सख्य भक्तोंमें ऐश्वर्यज्ञान नहीं है, पर उनकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) सुहृद् सखा, (२) सखा, (३) प्रिय सखा और (४) प्रिन्म सखा। भगवान् श्रीकृष्णसे कुछ अधिक उम्रके वात्सल्यभावसे युक्त, सदा-सर्वदा श्रीकृष्णकी देख-रेख रखनेवाले सुभद्र, भद्रवर्द्धन, मंडलीभद्र, गोभट, यक्षेन्द्रभट, भद्राङ्ग, वीरभद्र, बलभद्र, महागुण और विनय आदि 'सुहृद् सखा' हैं। जो श्रीकृष्णसे कुछ कम उम्रके और श्रीकृष्णकी सेवा-सुखके ही अभिशापी हैं—वे देवप्रस्थ, भानु,

कुसुमपीड, मणिवन्ध, वरूथप, विशाल, वृषभ और ओजस्वी आदि 'सखा' हैं। जो श्रीकृष्णके समान उम्रके हैं, जिनमें वात्सल्य और दास्य-रसका सम्मिश्रण सर्वथा नहीं है। अपनेको श्रीकृष्णकी वरावरीका मानते हैं तथा जो श्रीकृष्णके साथ सदा निस्संकोच खेळा करते हैं, कंधोंपर चढ़ा लेते हैं, स्वयं चढ़ जाते हैं, कमी मान करके रूठ जाते हैं तथा श्रीकृष्ण जिनको मनाते है, कमी श्रीकृष्णका जरा-सा भी मुख उदास देखते हैं तो रो-रो मरते है और अपने प्राण देकर भी उन्हें सुखी देखना चाहते हैं—वे श्रीदाम, सुदाम, वसुदाम, किकण, स्तोककृष्ण, भद्रसेन, पुण्डरीक, अंशु, विटंक और विळासी आदि 'प्रियसखा' हैं। और इन लोगोंसे भी अधिक भावयुक्त अत्यन्त अन्तरंग, गोपनीय लीलाओंके सहचर सुबल, अर्जुनगोप, वसन्त, गन्धर्व और उज्ज्वल आदि 'प्रियनर्मसखा' हैं। इस सख्यरसके भक्तमें जगत्के सभी प्राणियोंके प्रति सहज 'मैत्री-भावना' हो जाती है।

सख्यरसमें कोई संकोच सम्भ्रम न होकर विश्रम्भका भाव होनेपर भी एक कमी है। इसमें देश-काल-परिस्थितिकी कुछ ऐसी बाधाएँ रहती हैं, जिनसे भक्तका सारा समय और ध्यान केवल इसी भावमें नहीं लगा रहता। वे बाधाएँ बहुत अंशमें वात्सल्य-रसमें पहुँच जानेपर दूट जाती हैं।

वात्सल्य-रसका स्थायिभाव 'वात्सल्य-रति' है। इसमें एक द्विचित्र ममताका उदय होता है। श्रीकृष्ण मेरा लाल है, मेरा दुलारा बच्चा है। यहाँ भगवान् उस भक्तके पुत्र होकर रहते हैं।

१०१ चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुर फल—भगवत्प्रेम

श्रीकृष्ण यशोदामैयाका स्तन्यपान करके तथा नन्दबाबाकी गोदमें बैठकर जो सुख-लाम करते हैं और जो सुख-सौभाग्य उनको देते हैं, उसकी कहीं कोई तुलना नहीं। इस वात्सल्य-रसकी ऐसी विलक्षणता है कि यह भगवान्की भगवत्ताको सर्वथा छिपा-सी देती है। नन्द-यशोदा, वसुदेव देवकी भगवान्के आनन्शंसे सम्भूत देव-देवी ही हैं। वे भगवान्के स्वरूपका ज्ञान न रखते हों यह सम्भव नहीं है, तथापि वात्सल्य-रसके आस्वादनके लिये इनके सामने भगवान् ही अपने सर्वलोक-महेश्वरत्वको, अनन्त ऐश्वर्यज्ञान स्वरूपको नन्हेसे नन्दकुमारके रूपमें छिपा लेते हैं। लीलाके लिये अपने उस ऐश्वर्य-स्वरूपकी कभी-कभी शक्ति भी करा देते हैं। भगवान्ने मिट्टी खानेके समय, दूध पीते समय, दामोदर-लीलामें ऐश्वर्य दिखाया, पर यशोदामैयाके उमड़ते मातृभावके सामने उसका कोई भी प्रभाव नहीं रह गया।

इस वात्सल्य-रसमें स्नेहका महान् रस-समुद्र उमड़ता रहनेपर भी यही सर्वोच्च रस नहीं है। रसकी सर्वोच्च परिणति है—कान्त या मधुरभाव अथवा माधुर्य-रसमें। यह मधुर या परमोच्च उज्ज्वल रस शृङ्गाररसका अतोन्द्रिय दिव्यस्वरूप है। यहाँ इस बातको सदा स्मरण रखना चाहिये कि इस माधुर्य-रसको लौकिक नर-नारियोंके दाम्पत्य प्रेमसे कहीं भी, कोई भी समानता नहीं है। हम मनुष्योंमें प्रेम और स्नेहके जितने भी सम्बन्ध हैं, सभी स्वार्थमूढक हैं। अपने सुखकी कामनासे संयुक्त हैं। पर यह भगवत्प्रेम-रस, जिसकी आस्वादनलीला ब्रजमें हुई थी

केवल और केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही है। लौकिकप्रेम अहसे युक्त 'स्वार्थमूलक' है और यह माधुर्य-प्रेम त्यागपूर्ण 'प्रियतम-सुखमूलक' है। इसीसे वह 'काम' है और यह 'प्रेम' है। दोनोमें उतना ही अन्तर है, जितना घोर अन्धकार और परमोज्ज्वल प्रकाशमें है। लौकिक प्रेम कितना ही श्रेष्ठ तथा पूर्ण हो— वह इस दिव्यभावतक पहुँचनेकी कदापि सामर्थ्य नहीं रखता। लौकिक मलिन विषयकामकी तो बात ही क्या है, मुक्तिकी कामना भी यहाँ सहज ही बलंक-सी त्याज्य है।

श्रीरुक्मिणीजी आदि महिषगण, श्रीलक्ष्मीजी आदि नित्य-देवीगण और महाभाव-स्वरूपा श्रीराधिका आदि गोपांगनागण इस माधुर्य-रसकी आदर्श हैं। गढता और मृदुताके अनुसार इस माधुर्य-रतिके तीन भेद माने गये हैं—साधारणी, समञ्जसा और समर्था।

भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारकाळीलामें 'साधारणी', मथुरामें 'समञ्जसा' और वृन्दावनमें 'समर्था' रति है। यद्यपि द्वारकाकी महाभाग्यवती महिषियोका प्रेम बहुत ही ऊँचा है और उनकी मन-बुद्धि सदा ही प्रियतम भगवान्के प्रति समर्पित है, पर उनका प्रेम-समर्पण वेद-विधिके अनुगत है। उनमें गृहस्थधर्मानुसार पुत्र-कन्यादिके लालन-पालनकी आशा और अपने स्वामीके द्वारा आत्म-सुख-प्राप्तिकी आकाङ्क्षा भी है, यह 'साधारणी-रति' है। जिसमें पुत्र-कन्याके लालन-पालनादिकी तथा अपने रक्षणवेक्षणकी अपेक्षा नहीं है। प्रियतम श्रीकृष्णको सुख देना और उनसे सुख पाना 'आत्म-सुख' और 'प्रियतम-सुख'का मिश्रण यों 'समरस-विलास' है, वह

१०३ चरम और परम उपासनाका सुधा-मधुर फल—भगवत्प्रेम

‘समञ्जसा-रति’ है । परस्पर गुणजनित सुख-प्राप्तिकी अभिलाषा होनेसे यह भी ‘समर्था रति’ नहीं है । ‘समर्था-रति’ तो केव ठ श्रीगोपागनाओं-में ही है, जहाँ स्व-सुख-वासनाके लेश-गन्धकी भी कल्पना नहीं है । रसराज आनन्दस्वरूप भगवान् इस शुद्ध प्रेमरसके आस्वादनमें ही परमसुख प्राप्त करते हैं । इन श्रीगोपीजनोमें सर्वश्रेष्ठ हैं— श्रीराधाजी । वे परम निर्मल, परम उज्ज्वल, दिव्यातिदिव्य रसकी अनन्त अगाध सागर हैं । श्रीराधारानी महाभावस्वरूपा हैं, श्रीलक्ष्मीजी, महिषीगण और ब्रजसुन्दरियों आदि सभी श्रीकृष्ण-प्रेयसियों इन श्रीराधाकी ही विभिन्न अभिव्यक्तियों है । श्रीराधा ही अनन्त श्रीकृष्ण कान्तागणकी बीजरूपा मूलशक्ति है । लक्ष्मीगण इनकी ‘अंश विभूति’ महिषीगण’ वैभवविलास’ और ‘ब्रजाङ्गनाएँ’ ‘काव्य व्यूहरूपा’ हैं ।

श्रीराधाका यह प्रेम पूर्ण और असीम है । यह सदा बढ़ता ही रहता है । यह सर्वश्रेष्ठ विशुद्ध, सरल, निर्मल और श्रीकृष्ण सुखैकतात्पर्यमय एकमात्र श्रीकृष्ण सुखरूप है । यही परमोज्ज्वल, परमोत्कृष्ट नित्यानन्तरूप सर्वोच्च प्रेम परम पुरुषार्थ है । यही सर्वश्रेष्ठ चरम तथा परम उपासनाका सर्वोपरि सुधा-मधुर दिव्य फल है, जो श्रीराधाकी कृपासे प्राप्त हो सकता है ।

श्रीगोपीजनके परम पवित्र त्यागभावका अनुकरण करके उनकी भक्ति सर्वसमर्पणकी साधना (जिसे ‘रागानुगा भक्ति’ कहते हैं) करनेसे श्रीराधाका कृपाळाम सम्भव है ।



रास-रहस्य

[त्यागकी पराकाष्ठा]

आज रासपूर्णिमा है । 'रास' शब्दको सुनकर हमलोग प्रायः रास-मण्डलियोंद्वारा जो रासलीला होती है, इसीकी बात सोचते हैं, दृष्टि उधर ही जाती है । अवश्य ही यह रासलीला भी उसका अनुकरण ही है, उसीको दिखानेके लिये है, इसलिये आदरणीय है । परंतु भगवान्का जो दिव्य रास है, उसकी विलक्षणता थोड़ी-सी समझ लेनी चाहिये ।

'रास' शब्दका मूल है—'रस' और रस है—भगवान्का रूप—'रसो वै सः' । अतएव वह एक ऐसी दिव्य क्रीड़ा होती है, जिसमें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें अभिव्यक्त होकर अनन्त-अनन्त रसोंका समाखादन करता है—वह एक ही रस अनन्त रसरूपमें प्रकट होकर स्वयं ही आस्वाद, स्वयं ही आस्वादक, स्वयं ही लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनके रूपमें लीलायमान हो जाता है और तब एक दिव्य लीला होती है—उसीका नाम 'रास' है । रासका अर्थ है—'लीलायम भगवान्की लीला'; क्योंकि लीला लीलायम भगवान्का ही स्वरूप है, इसलिये 'रास' भगवान्का स्वरूप ही

है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। भगवान्की यह दिव्य लीला तो नित्य चलती रहती है और चलती रहेगी, इसका कहीं कोई ओर-छोर नहीं। कबसे प्रारम्भ हुई और कबतक चलेगी—यह कोई बता भी नहीं सकता। कभी-कभी कुछ बड़े ऊँचे प्रेमी महानुभावोंके प्रेमाकर्षणसे हमारी इस भूमिमें भी 'रास-लीला'का अवतरण होता है। यह अवतरण भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यके समय हुआ था। उसीका वर्णन श्रीमद्भागवतमें 'रासपञ्चाध्यायी'के नामसे है। पाँच अध्यायोंमें उसका वर्णन है। इन पाँच अध्यायोंमें सबसे पहले वंशीध्वनि है। वंशीध्वनिको सुनकर प्रेमप्रतिमा गोपिकाओंका अभिसार है; श्रीकृष्णके साथ उनका वार्तालाप है, दिव्य रमण है, श्रीराधाजीके साथ श्रीकृष्णका अन्तर्धान है, पुनः प्राकट्य है। फिर गोपियोंद्वारा दिये हुए वसनासनपर भगवान्का विराजित होना है। गोपियोंके कुछ कूट प्रश्नोंका, गूढ़ प्रश्नोंका, प्रेम-प्रश्नोंका उत्तर है। फिर रास-नृत्य, क्रीड़ा, जलकेलि और वन-विहार—इस प्रकार अन्तमें परीक्षित्के संदेशान्वित होनेपर बंद कर दिया जाता है—रासका वर्णन।

यह बात पहलेसे ही समझ लेनी चाहिये। यह भगवान्की लीला है। याद रखनेकी बात है यह! इसीलिये इस रास-पञ्चाध्यायीमें सबसे पहला शब्द आता है—'भगवान्'।

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥

(श्रीमद्भागवत १०।२९।१)

‘शरदोत्फुल्लमल्लिका’ का क्या अर्थ होता है । भला,

शरद-ऋतुमें मल्लिका कहाँसे प्रफुल्लित हुई ? परंतु इसके विचित्र भाव हैं और विचित्र अर्थ हैं । यह अनुभवकी वस्तु है, कुछ कहा नहीं जा सकता । किंतु इतनी बात तो जान लेनी चाहिये कि यह जो कुछ है—सब भगवान्में है और भगवान्का है । जडकी सत्ता जीवकी दृष्टिमें होती है । अज्ञानयुक्त हमारी आँखोंमें है—उसकी सत्ता । भगवान्की दृष्टिमें जडकी सत्ता ही नहीं है । देह और देहीका जो भेदभाव है, वह प्रकृतिके राज्यमें है, जडराज्यमें है । अप्राकृतिक लोकमें, जहाँ प्रकृति भी चिन्मय है, वहाँ सब कुछ चिन्मय है । वहाँ अचित्की वहीँ-कहीं जो प्रतीति होती है—वह केवल चिद्विलास अथवा भगवान्की लीलाकी सिद्धिके लिये होती है, वस्तुतः वहाँ अधिक कुछ है ही नहीं । इसलिये होना यह है कि जीव होनेके कारण हमारा मस्तिष्क, क्योंकि जड राज्यमें है, इसलिये जड राज्यमें हम प्राकृतिक वस्तुओंको जडरूपमें ही देखते हैं । इसीलिये कभी-कभी जब हम अप्राकृतिक वस्तुका भी विचार करते हैं, जैसे— भगवान्का दिव्य लीला-प्रसङ्गका भगवान्की रासलीला इत्यादिका, जो सर्वथा अप्राकृतिक चिन्मय वस्तु है, तो हमारी यह बुद्धि जडमें प्रविष्ट रहनेके कारण वहाँ भी जडको ही देखती है । इस प्रकार अपनी जड-राज्यकी धारणाओंको, कल्पनाओंको, क्रियाओंको लेकर हम उसीका दिव्य राज्यमें भी आरोप कर लेते हैं । अपनी

सड़ी-गळी-गंदी विष-विष कर्दमभरी आँखोंसे हम वही सड़ी-गळी-गंदी चीजोंकी, हाड़-मांस-रक्तके शरीरकी—जिसमें विषा-मूत्र-श्लेष्म भरा है—कल्पना करते हैं—इसीको देखते हैं। चिन्मय राज्यमें हम प्रवेश ही नहीं कर पाते और इसलिये दिव्य-रासमें भी हमलोग इन जड़ स्त्री-पुरुषोंकी और उनके मिलनकी ही कल्पना करते हैं। किंतु यह बात सर्वदा ध्यानमें रखने ली है कि भगवान्का यह रास परम उज्ज्वल, दिव्य रसका प्रकाश है। जड़जगत्की बात तो दूर रही, हम यहाँतक कह दें तो अत्युक्ति नहीं होगी कि ज्ञान या विज्ञानरूप जगत्में भी यह प्रकट नहीं होता। इतना ही नहीं, जो साक्षात् चिन्मय तत्त्व है, उस परम दिव्य, चिन्मय तत्त्वमें भी इस दिव्य रसका लेशमांस नहीं देखा जाता। इस परम रसकी स्फूर्ति तो परम भावमयी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा, कृष्णगृहीतमानसा उन श्रीगोपीजनोके मधुर हृदयमें होती है और गोपीका वह मधुर हृदय नित्य-निरन्तर केवल भगवान्का ही स्वरूप है। इसलिये इस रासलीलाके अर्थात् स्वरूपको और परम माधुर्यको समझनेके लिये सबसे पहले यह समझना चाहिये कि यह 'भगवान्की दिव्य-चिन्मय लीला' है।

श्रीगोपाङ्गनाएँ भगवत्स्वरूपा हैं, चिन्मयी हैं, सच्चिदानन्दमयी हैं। साधनाकी दृष्टिसे भी, इन्होंने जड़शरीरका मानो इस तरहसे त्याग कर दिया। सूक्ष्मशरीरसे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग, कैवल्यसे अनुभव होनेवाले आनन्दस्वरूपका भी त्याग कर दिया। इनकी दृष्टिमें क्या है ? गोपियोंकी दृष्टिमें क्या है—यह बहुत गम्भीर समझनेकी वस्तु है, साधनाकी ऊँची-से-ऊँची साध्य वस्तु। गोपियोंकी दृष्टिमें है—केवल

और केवल चिदानन्दस्वरूप प्रेमास्पद श्रीकृष्ण प्रियनम और इनके हृदयमें श्रीकृष्णको तृप्त करनेवाला निर्मल परम प्रेमामृत छलकता रहता है नित्य । इसीलिये श्रीकृष्ण उनके हृदयके प्रेमामृतका रसाखादन करनेके लिये लालायित रहते हैं, इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं उद्दीपन-मञ्चकी रचना की, गोपाङ्गनाओंका आह्वान किया और इसीलिये शरदूकी रात्रियोंको उन्होंने चुना और आमन्त्रित किया । यहाँपर यह कल्पना भी नहीं करनी चाहिये कि यहाँ कोई जडाज्य है । गोपियोंके वास्तविक स्वरूपको पहचानना चाहिये । शास्त्रोंमें आता है—ब्रह्मा, शंकर, नारद, उद्धव और अर्जुन-जैसे महान् लोगोंने बड़े-बड़े त्यागी ऋषि-मुनियोने यहाँतक कि स्वयं 'ब्रह्मविद्या ने दीर्घकालतक तप-उपासना करके गोपीभावकी थोड़ी-सी लीला देखनेके लिये वरदान प्राप्त किया । अनुसूया, सावित्री इत्यादि महान् पतिव्रता देवियाँ भी गोपियोंकी चरण-धूलिकी उपासिका थीं । एकमात्र श्रीकृष्णके अतिरिक्त कोई पति है ही नहीं—इस बातको देखनेवाली परम पतिव्रता तो एकमात्र श्रीगोपियों ही हैं । दूसरी कोई थी ही नहीं और कभी ऐसा कोई हुआ ही नहीं ।

इस स्थितिका भाव जब हम देख सकें, तभी हम गोपियोंकी दिव्य लीलापर विचार कर सकते हैं, अन्यथा कदापि नहीं । सबसे पहले यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि यह 'भगवान्'की लीला है । भगवान् सच्चिदानन्दघन दिव्य हैं, अजन्मा हैं, अविनाशी हैं, हानोपादानरहित हैं, सनातन हैं, सुन्दर हैं । इसी प्रकार श्रीगोपाङ्गनाएँ भी भगवान्की स्वरूपभूता, श्रीराधा-रानीकी कायव्यूहरूपा हैं । ये सब इनकी अन्तरङ्ग-शक्तियाँ हैं । इन दोनोंका सम्बन्ध भी नित्य एवं दिव्य

है। भाव-राज्यकी यह लीला स्थूलशरीर, स्थूल मनके परेकी वस्तु है। इसीलिये जब गोपियोका आवरण भङ्ग हुआ, तब इस लीलामे लीलाके लिये भगवान्ने उनको संकेत किया—दिव्य रात्रियोंका। उसी संकेतके अनुसार भगवान्ने इनका आह्वान किया। यहाँसे आरम्भ होता है यह दिव्य मधुर प्रसङ्ग। बहुत सक्षेपमें तीन-चार श्लोकोंकी बात कह देनी है, अधिक नहीं, वह भी बहुत नीचे उतरकर।

भगवान्का यह मिलन कब होता है? जब और किसी वस्तुकी कल्पना भी मनमें नहीं रह जाती और जब भगवान्के मिलनके लिये चित्त अनन्यरूपसे अत्यन्त आतुर हो जाता है। यह दशा जब होती है और भगवान् जब इसको देख लेते हैं कि अब यह तनिक-सा संकेत पाते ही, सर्वस्वका त्याग तो कर ही चुका है, उस सर्वस्वके त्यागको प्रत्यक्ष करके आ जायगा। इस प्रकारकी स्थिति जब भगवान् देखते हैं, तब वे मुरली बजाते हैं और वह मुरली-ध्वनि उन्हींको सुनायी भी देती है। ब्रजमे भी उस समय मुरली तो बजी और मुरलीकी जो ध्वनि दिव्य लोकोंमें पहुँच-पहुँचकर वहाँके देवताओंको भी स्तम्भित कर देती है, नचा देती है—उस मुरलीकी ध्वनिको भी उस दिन—आजके दिन—शारदीय रात्रिके दिन—सवने नहीं सुना। वह ध्वनि केवल उन्हींके कानोंमें गयी जो भगवान्से मिलनेके लिये आतुर थे, जिनका हृदय अत्यन्त उत्सु था भगवत्-मिलन-सुधाके लिये। केवल उन्हींके हृदयमें, उन्हींके कानोंमें भगवान्की वह मुरली-ध्वनि पहुँची। मुरली-ध्वनि क्या थी—भगवान्का आह्वान था, क्योंकि उनकी

साधना पूर्ण हो चुकी थी । भगवान् ने अगली रात्रियोमें उनके साथ विहार करनेका प्रेम-संकल्प जो कर लिया था ।

मुरली बजी—तब क्या हुआ ? बड़ी सुन्दर भावना है । बड़ी सुन्दर बात लिखी है श्रीमद्भागवतमें—

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं

ब्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।

आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः

स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥

(१० । २९ । ४)

यह स्थिति होती है भगवान् के यथार्थ विरही साधककी । बड़ी ऊँची स्थिति है यह । कहते हैं—मुरली बजी और मुरलीकी गीत-ध्वनि उन्होंने सुनी । वह गीत कैसा था ? 'अनङ्गवर्धक' था । ये जितनी भी ससारमें हम प्रकृतिकी वस्तुएँ देखते हैं, इसमें कोई भी अनङ्ग नहीं है । प्रकृति स्वयं अनङ्ग नहीं है, अङ्गवाली है और ये अङ्गवाली कोई भी चीज गोपियोके मनमें नहीं रही ।

किंतु वह 'अनङ्ग' कौन है ? भगवान् है—प्रेम है । और कोई भी अनङ्ग है ही नहीं । इस अनङ्गकी, इस प्रेमकी वृद्धि करनेवाली वह वेणु-ध्वनि इनके कानोंमें पड़ी । किनके कानोंमें पड़ी ? एक शब्द बहुत सुन्दर है—'कृष्णगृहीतमानसाः,—जिनके मनोको श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रक्खा था । गोपियोंका मन अपने पास नहीं, वे 'कृष्णगृहीतमानसा' है । जो कृष्णगृहीतमानसा नहीं होंगी, उनको भयके कारण मोहसे छुटकारा नहीं मिल सकता; वे भगवान् के आह्वानको नहीं सुन सकते, उनका मन तो घरमें फँसा

है। उनको तो घरकी ही पुकार सुनायी देती है चारों तरफसे। मुरलीकी पुकार कहाँसे सुनायी देगी ? मुरलीकी पुकार तो सारे ब्रजमें गयी, किंतु उन्हीं ब्रजवालाओने सुनी जो कृष्णगृहीतमानसा थीं। घरके अन्य लोगोंने नहीं सुनी; क्योंकि घरमें ही उनका मानस रम रहा था, घरने ही उनके मानसको पकड़ रक्खा था। किंतु ये कृष्णगृहीतमानसा ब्रजवालाएँ कैसी थीं—इनके मनको श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रक्खा था। इनके पास इनका मन था ही नहीं। वैसे तो हमारे पास भी हमारा मन नहीं है। हमने भी खुला छोड़ ही रक्खा है उसे विषयके वंहड़ वनमें विचरनेके लिये। जहाँ चाहता है, हमको ले जाता है। किंतु यह यथार्थ खुला छोड़ना नहीं, यह तो किसीमें लगाकर छोड़ना है। विषयोंमें लगे हुए मनको हम खुला छोड़ना कहते हैं—पर वह तो विषयोसे आवद्ध है। खुला छोड़नेका अर्थ क्या है ? विषयोंसे सर्वथा इसको विमुख करके खुला छोड़ दें। जब हम विषयोंको मनसे निकालकर, विषयोंसे मनको हटाकर मनको खुला छोड़ देंगे, जहाँ मन सचमुच निर्वन्ध हुआ कि 'भगवान् इसे ले जायँगे' यह त्रिलोक सच्ची बात है।

भगवान् आते है, पर हमारे मनको खुला नहीं देखते। भगवान् आते है, पर हमारे मनको किसीके द्वारा पकड़ा हुआ देखते है, हमारे मनमें किसीको बैठा हुआ पाते है। तब भगवान् देखते हैं कि इसका मन तो अभी खाली नहीं है, बंधा हुआ है—तब वे लौट जाते हैं। किंतु गोपियोने मनको खुला छोड़ दिया था। सब चीजोसे मनको खोल दिया था। मनके सारे बन्धनोको काट दिया था उन्हींने।

‘ता मन्मनस्का.’ अब क्या हुआ ? जब मन इनका ऐसा हो गया, जिसमें संसार रहा नहीं तो भगवान्ने आकर उसको पकड़ लिया । और मनको पकड़कर क्या किया ? गोपियोंके मनको अपने मनमें ले गये और अपने मनको उनके मनमें बैठा दिया । ‘ता मन्मनस्काः’ का यही अर्थ है कि गोपियोका अपना मन था नहीं और उनके मनमें, श्रीकृष्णका मन आ बैठा, तो उनका मन वहाँ गया ? जब हम गोपीभावकी बात करें तो उसके पहले यह देख लेना चाहिये कि हमारा मन संसारसे मुक्त होकर, खाली होकर, भगवान्के द्वारा पकड़ा जा चुका है या नहीं । भगवान्ने हमारे मनको पकड़ लिया है या नहीं । यदि नहीं पकड़ा है तो हम ‘गोपी’ नहीं बन सकते ।

जिस वेणुगीतको भगवान्ने गाया, वह ‘अनङ्गवर्धन’ गीत था । अनङ्ग—प्रेम, भगवत्प्रेमके बढ़ानेवाले उस गीतको उन लोगोंने ही सुना, जिन श्रीगोपाङ्गनाओंका मन श्रीकृष्णने पहलेसे ही ले रक्खा था । उनको सुनते ही क्या हुआ ? जिस प्रकार लोभी धादमीको, जो धनका अत्यन्त लोभी हो और उसको पता भी लग जाय कि अमुक जगहपर धन पड़ा है, जाते ही मिठ जायगा । धन लुट रहा है, तो वह कोई साथ नहीं बटोरेगा, सलाह नहीं करेगा कि अमुक-अमुक धादमी साथ चलो । जहाँ उसने बात सुनी कि भागा, चला, न किसीसे बातचीत की, न किसीसे सलाह ली । कहते हैं—इसी प्रकार ब्रज-सुन्दरियोने भी ‘अन्योन्यम् अलक्षितोद्यमाः’ किसीसे कहा नहीं कि हम जा रही

हैं, तुम भी चलो । इसका एक कारण और भी आयेगा—आगे । उन्होंने किसीसे कहा नहीं; क्योंकि वे तो कृष्णगृहीतमानसा थीं । आह्वान मिलते ही बिना किसीको कहे-सुने चल दीं । चलीं कैसे ? धीरे-धीरे नहीं, मौजसे नहीं, द्रुतगतिसे दौड़ीं । अपने-आपको रोक नहीं सकीं, ठहर नहीं सकीं, चालमें धीमापन नहीं ला सकीं—दौड़ीं—जितना तेज दौड़ सकती थीं । बताते हैं दौड़नेमें क्या हुआ 'जवलोल-कुण्डलाः' उनके कानोंके कुण्डल सब-के-सब अत्यन्त हिलने लगे । वे दौड़ पड़ीं इसीका यह एक संकेत बताते हैं । वे इतनी जोरसे चलने लगीं कि उनके कानोंके कुण्डल हिलने लगे । असलमें आभूषण भी वही है जो भगवान्से मिलनेके लिये हिलते हैं, आतुर हो उठते हैं, नहीं तो जड हैं, पत्थर हैं, उन पत्थरोंमें रक्खा क्या है । इस प्रकार वे गयीं और पहुँच गयीं । 'यत्र सः कान्तः' जहाँपर उनके कान्त, स्वामी, अपने प्रियतम थे ।

'प्रियतम' एक भगवान् ही हैं भला । संसारमें कोई भी प्रियतम—कान्त नहीं है । हमलोगोंने न मालूम किस-किसको कान्त बना रक्खा है । स्त्रियोंके ही 'कान्त' नहीं होते हैं, पुरुषोंके भी होते हैं । हम सब लोगोके न मालूम कितने 'कान्त' हैं ? पता नहीं है । किंतु वे तो असली 'कान्त' के पास जा पहुँचीं । प्रश्न हुआ—वे एक-एक गयीं या साथ गयीं । घरके काम-काजको सँभालके, सहेजके गयी होगी न ? और भाग गयीं ? तो

कैसे भाग गयीं; क्योंकि कृष्णगृहीतमानसा थीं—मुरलीकी ध्वनि सुनते ही दौड़ पड़ीं। दौड़ क्यों पड़ीं ? क्योंकि समुत्सुका भी थीं—श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये परम उत्सुक—परम आतुर थीं। और यही प्रेमी साधकका रूप होता है। ये विशेषण—‘कृष्णगृहीतमानसाः’ एवं ‘समुत्सुकाः’ बताते हैं उनकी स्थितिको। वे इतनी उत्सुका थीं भगवान्से मिलनेके लिये कि जहाँ मिलनेकी बात, किसी भी रूपमें आयी, इनको और कुछ सूझा ही नहीं। आगे बताते हैं—(काश्चिद् दुहन्त्यः दोहं हित्वा) कुछ गोपियाँ गाय दुह रही थीं, गायका थन हाथमें है, नीचे वरतन रक्खा है। मुरलीकी ध्वनि कानमें आयी, वैसे ही दुहना छोड़कर दौड़ीं। किधर दौड़ीं—जिधरसे वह वेणुनाद आ रहा था। (अभिययुः) उस वेणुनादकी धोर लक्ष्य करके, वे भागीं। यह तो हुई दुहने-गलियोकी दशा। और कुछ गोपियोने दूधको चूल्हेपर रख दिया था औटानेके डिये। जहाँ आह्वान आया, अब औटावे कौन ? जैसे दूध दुहते भागीं, वैसे ही कुछ दूध चूल्हेपर ही छोड़कर दौड़ीं। चाहे उफन जाय, जल जाय।

जबतक जगत्की स्मृति रहती है, तबतक हम भगवान्का आह्वान नहीं सुनते। भगवान्का आह्वान सुनते ही जगत्की स्मृति वे भूल गयीं। साधनाका एक ऊँचा स्तर है यह। जगत्को याद रखते हुए हम जो भगवान्की ओर जाते हैं, यह भगवान्की ओर नहीं जाते, जगत्में ही रमते हैं। जगत्की स्मृति मनमें रहती है। किंतु गोपियोंको तो जहाँ भगवान्का आह्वान कानोमें सुनायी दिया, वे जगत्को

सर्वथा भूल गयीं । दूध दुहना भूल गयीं और दूधको चूहेपर भूल गयीं । भागवतकार आगे कहते हैं, एक तो हलुआ बना रही थी (संयाचम्) । हलुआ बना रही थी तो हलुआ उतार देती । किंतु उतार देती कौन ? होश रहता तब न । (अनुद्धास्य अपराः श्युः) बिना उतारे ही भाग गयी । हलुआ जब जायगा इतना सोचनेका अवकाश कहाँ ? यही विरही साधककी स्थिति होती है । जब भगवान्का आह्वान सुनता है, साधक उस समय जगत्की ओर नहीं देखता । बुद्धने भी नहीं देखा जो प्रेमके साधक नहीं थे । जरा-सा एक बार मुड़कर देखा, फिर मुँह मोड़ लिया । बादमें प्रश्न होता है कि 'यह तो अपना-अपना काम था । दूसरेका काम करती होतीं, तब तो इस प्रकार छोड़कर नहीं जा सकती थीं ।' किंतु यह भी झुझा । (परिवेषयन्त्यः तत् हित्वा) घरवालोंको भोजन परोस रही थीं यह तो सम्यता भी होती है कि परोसना-तकके कामको तो पूरा करके जातीं । किंतु उसको भी छोड़कर दौड़ चलीं; क्योंकि कृष्णगृहीतमानसा—समुत्सुका थीं वे । फिर प्रश्न होता है कि खैर, यह तो कोई बात नहीं । बच्चे तो बड़े प्यारे होते हैं । तो कोई बच्चोंको दूध भी पिला रही होंगी । किंतु (शिशून् पयः पाययन्त्यः) शिशुओंको दूध पिलाते हुए भी छोड़कर भाग गयीं, शिशु रोते ही रह गये । (काः चित् पतीन्) कुछ पतिव्रताएँ अपने पतियोंकी सेवा कर रही थीं । वे भी दौड़ पड़ीं । इसका उल्टा अर्थ कोई ले लेगा तो भूल ही करेगा; क्योंकि यहाँ लौकिक जगत् नहीं है । यह तो परम पवित्र साधना, परम

पावन उस उच्च साधनाकी वस्तु है, जहाँपर जगत् नहीं रहता । इतना ही नहीं; कुछ गोपियों खा रही थीं । आदमी खाता है तो सोचता है खाकर ही चले । किंतु (भोजनम् अपास्य) भोजन करते हुए बीचमें ही दौड़ पड़ीं । थाली पड़ी रही । (अन्याः लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्यः) कुछ जो अङ्गराग लगा रही थीं, कुछ उबटन लगाकर नहा रही थीं, उबटन लगाकर नहाना था, उबटन लगा ही रह गया । उबटन कहीं लगा, कहीं लगा ही नहीं—ऐसे ही लगा रह गया । कुछ काजल डाल रही थीं नेत्रोंमें (लोचने अञ्जन्त्यः) एक आँखमें काजल पड़ा और दूसरेमें रह गया, ऐसे ही छूट गया । (काः चित् व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः) पहन रही थी चोली और सोचा कि ओढनी है, उसे सिरपर डाल लिया । उल्टे कपड़े पहन लिये । हाथका गहना पैरमें पहन लिया । कानका गहना उँगलीमें डाल लिया । पता ही नहीं, गहना है कि क्या है । (व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः कृष्णान्तिकम् ययुः) उल्टे सीधे गहने कपड़े पहननेसे विचित्र शृङ्गार हो गया । चली गयी श्रीकृष्णके समीप । जहाँतक शृङ्गार दीखता है, वहींतक शृङ्गारका दासत्व है । किंतु वहाँ तो जब भगवान्का आह्वान होता है तो यहाँके शृङ्गारका कोई मूल्य नहीं रहता । यहाँका सारा शृङ्गार बिगडकर वहाँका शृङ्गार होता है ।

इनके लिये एक शब्द और आया है 'गोविन्दापहृतात्मानः'—गोविन्दने इनके अन्तःकरणका अपहरण कर लिया था । यह

हमलोगोका परम सौभाग्य हो कि हमारे भी मनको भगवान् हरण कर लें, चुरा लें। किंतु वे क्यों चुरा लें ? यहाँ एक बात समझनेकी है कि हम यह कामना करें, मिथ्या ही करें, चाहें कि हमारे 'मनको गोविन्द हरण कर ले जायँ।' गोविन्द तो लेनेके लिये तैयार हैं। किन्तु कब ले जायँगे ? जब हम अपने मनको उनके लिये खाली रखेंगे तब। जब भरा हुआ बोझा है, कौन उठाकर ले जाय इसको। मनको हरकर भी ले जायँगे, चोरी करके भी ले जायँगे। पर पहले हम अपने मनको जगत्से खाली करें। इसमें जो कूड़ा-करकट भर रक्खा है उसको निकाल दे, तब गोविन्द अवश्य इसको हरकर ले जायँगे। गोपियोंने सब कुछ निकाल दिया था अपना, अपने मनसे। इसलिये उनके मनको भगवान् हरण करके ले गये।

इस रासपञ्चाध्यायीमें इसी परम त्यागकी, सबसे ऊँची समर्पणकी लीलाका वर्णन है। उनमें आपसमें कोई भेद है ही नहीं। लोगोको दिखानेके लिये वे दो बने हैं। श्रीकृष्ण स्वयं ही दो बने हुए हैं। पर इसमें यह दिखाया गया है कि कितना ऊँचे-से-ऊँचा त्याग होना चाहिये—भगवान्की ओर जाना चाहता है उस साधकमें। इसमें उल्टी बात है। लोग देखते हैं, इसमें भोग-ही-भोग है, पर वस्तुतः है इसमें केवल त्याग-ही-त्याग। कहीं भोग है ही नहीं इसमें। इसी त्यागसे आरम्भ होता है यह और त्यागमें ही इसका पर्यवसान है। उनका सब कुछ त्याग होकर श्रीकृष्णमें विलीन हो गया। उनका जीवन, उनकी क्रिया, उनके सारे काम, उनकी कुल चेष्टाएँ

श्रीकृष्ण-सुखमें विलीन हो गयीं । इस प्रकारका त्यागमय जीवन है श्रीगोपीजनोंका ।

हम सब भी गोपी बन सकते हैं । यदि किसीको गोपी बनना हो तो तीन बात करनी है उसको । (१) अपने मनसे जगत्को निकाल देना । (२) भगवान्को देनेके लिये मनको तैयार कर देना । उनसे कहना है कि ले जाओ इस मनको नाथ ! और (३) किसी भी कारणसे, किसी भी हेतुको लेकर, कहींपर भी अटकनेकी भावना न रहे । कहीं भी अटके नहीं । भगवान्को मन देनेके लिये तैयार कर ले और मनको जगत्से खाली कर ले ।

जहाँतक हमारे मनमें विषय भरे हैं और विषयोको मनसे निकालकर भी जहाँतक हम ज्ञान-विज्ञानकी ओर जाते हैं तो हम अपना मन भगवान्को सौंपना नहीं चाहते । ऐसी स्थितिमें भगवान् लेते भी नहीं हमारे मनको । मन अमन होता है । मन मिट जाता है, मर जाता है पर भगवान्का नहीं होता । और तीसरी बात है, जो सबके लिये आवश्यक है, मनका कहीं न अटकना, यह अटकना गोपीमें नहीं है । गोपियों कहीं अटकीं नहीं । न गहनेने अटकाया, न कपड़ेने अटकाया, न भोजनने अटकाया, न घरवालोंने अटकाया, न मान-प्रतिष्ठाने अटकाया । एकको उसके पतिने अटकाया । वह पहले ही पहुँच गयीं । आगे बात आती है ।

अन्तर्गृह्यताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।

कृष्णं तद्भावना युक्ताद्ध्युर्मीलितलोचनाः ॥

एक गोपीको उसके पतिने रोका, पर वह पहले पहुँच गयी ।
प्राणोंको देकर पहुँच गयी ।

अतएव आजकी जो शरद-पूर्णिमाकी रात्रि है, ऊँची बातोंको छोड़ भी दें तो इतनी बात तो समझनी ही है कि यह रात्रि साधनाके लिये बड़े ऊँचे आदर्शको बतलानेवाली रात्रि है । इस दिन साधनाङ्गी परिपूर्णताका जो परम फल होता है, वह प्राप्त किया श्रीगोपाङ्गनाओने । कैसे किया ? बड़ी विलक्षण बात है । इसमें श्रीकृष्णसे लाभ उठानेके लिये गोपिकाएँ नहीं दौड़ पड़ीं थीं । उन्होने अपने हृदयमें विशुद्ध प्रेमामृत भर रक्खा था । वल्ल प्रेमामृतकी आकाङ्क्षा भगवान्को हो गयी । उस निष्कामसे, परम अकामसे, पूर्णकाममें उस पवित्र मधुर प्रेम-रसास्वादनकी इच्छा उत्पन्न हो गयी । अतएव वे भगवान्को सुख देने गयीं, सुख लेने नहीं । यही सार है गोपी-प्रेमका । जहाँतक हम भगवान्के द्वारा सुख चाहते हैं, वहाँतक हम भगवान्के भक्त नहीं हैं । हम भोगोंके दास हैं, सुखके दास हैं । एक प्रेमी ही जगत्में ऐसा है जो भगवान्को सुख देना चाहता है, और कोई है ही नहीं । बड़े-बड़े भक्त भी भगवान्से सुख चाहते हैं । वे भी कहते हैं—‘प्रभु ! समीप ही रहें । आपके अथवा आपके लोभको ही प्राप्त कर लें । सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य ही प्राप्त कर लें । दर्शन देते रहो—हमको ।’ पर ये प्रेमी भक्त तो कहते हैं कि दर्शन न देनेसे यदि तुमको सुख होता हो, तो दर्शन भी मत दो । कभी मत दो, नहीं चाहिये । भोगकी तो बात ही

नहीं। तुम्हारा दर्शन भी यदि तुम्हें सुखकर न हो तो हमें नहीं चाहिये। हमें चाहिये केवल तुम्हारा सुख।' इस प्रकार भगवान्को सुख देनेवाले एकमात्र प्रेमी भक्त ही होते हैं। जिज्ञासु साधक भी मुमुक्षा—मोक्ष चाहता है। कहता है—'महाराज! हमको मोक्ष दे दो। छुटकारा मिल जाय बन्धनसे।' सकामीकी तो बात ही नहीं होती यहाँ। भोगोंको चाहनेवाले हमलोग तो नरकके कीड़े हैं, उनकी तो बात ही नहीं है।

प्रेमी भक्त भगवान्को देते हैं। कुछ लेनेकी, कुछ माँगनेकी तो कल्पना ही नहीं। गोपियाँ गर्यीं वहाँपर भगवान्को देनेके लिये; क्योंकि भगवान्को कुछ देकर उन्हें सुख मिलेगा। जब भगवान्को कुछ दिया, भगवान्को सुखी देखा तो अपनेको परम सुखी अनुभव किया और इसी प्रकार इनको परम सुखी देखकर भगवान्को भी परम सुख होता है। एक-दूसरेको सुखी बनाकर सुखी होना, इसीका नाम 'रास' है।

यह रास नित्य चलता है। यह रासपूर्णिमा त्यागकी पराकाष्ठाका रूप बतानेवाली है। प्रेमके साध्यका रूप बतानेवाली है। हम तो साधक भी नहीं बन सके अभीतक। बल्कि बाधक हैं, क्योंकि भोगोंमें रहनेवाला तो अपने श्रेयमें बाधा ही देता है।

अपने सारे भोगोंसे हटाकर, सारे भोगोंका परित्याग करके, भगवान्के पवित्र आह्वानपर गोपियाँ अपने-आपको ले गर्यीं वहाँ और भगवान्के श्रीचरणारविन्दमें पहुँचकर उन्होंने भगवान्को सुख-दान दिया। यही रासका रूप है। यो तो रासकी बड़ी-बड़ी बहुत बड़ी-बड़ी ऐसी-ऐसी बातें हैं जो कभी चुकर्ती ही नहीं और उनमें भी आजका तो ऐसा भाव है, जिसके लिये केवल यही कहा जा सकता

है कि यह एक बहुत ऊँचा भाव है। इसके अन्तर्गत भी बहुत उँचे-ऊँचे दूसरे भाव भी हैं। जिन भावोंको कहनेके लिये न तो अवकाश है और न हम जानते ही हैं। इसलिये इतनी-सी बात जो अपने लिये आवश्यक है कि भगवान्के लिये त्याग करें—संसारकी आसक्ति, ममताका त्याग करें। सारी आसक्ति, सारी ममता एकमात्र भगवान्में प्रतिष्ठित हो जाय। इतना ही हम गोपी-भावसे सीख लें। इतना ही यदि हम राससे ले लें, तो हमारा जीवन कृतकृत्य हो जाय। रास-मण्डलमें तो कभी भगवान् ले जायँगे, कहीं उनकी इच्छा होगी, श्रीराधारानीकी कृपा होगी, वे किसी मजरीको नियुक्त कर देंगी तो वे स्वयमेव ले जायँगी। अपने पुरुषार्थसे हम नहीं जा सकते; क्योंकि हमारा पुरुषार्थ जहाँ समाप्त हो जाता है, वहींसे प्रेमका पाठ प्रारम्भ होता है। जहाँ चारो पुरुषार्थोंकी सीमा इस ओर ही रह जाती है, वहींसे प्रेमकी सीमा प्रारम्भ होती है। यही गोपी-प्रेम है—और रास तो उसका एक प्रत्यक्ष पूर्ण स्वरूप है। पूर्णतम प्रेम तो कहा ही नहीं जा सकता। प्रेम पूर्ण होता ही नहीं है। इस राज्यमें तो सारा-का-सारा अपूर्ण ही रहता है। जितना भी मिठा, उतना ही थोड़ा होता है। इसमें प्रवेश करनेवाशेके लिये श्रीगोपीजनोंका आचरण परम आदर्श वस्तु है। सारे जगत्को भूलकर, सारे जगत्को त्यागकर, केवल श्रीकृष्णगृहीतमानसा होकर वे अपनेको श्रीकृष्णके चरणोमे समर्पित कर देती हैं, श्रीकृष्णको सुखी बनानेके लिये और यह त्रिलक्षण भाव ही गोपीभाव है।



भक्तका एकाङ्गी प्रेम

भगवान्के सच्चे भक्त भगवान्से लौकिक या पारलौकिक सुख नहीं चाहते । वे तो चातककी भाँति केवल प्रेम ही करते हैं और उन्हें किसी भी अवस्थामें, कौसी भी बुरी स्थितिमें अपने प्रियतम भगवान्से किसी प्रकारकी शिकायत नहीं होती । उनमें भगवान्के प्रति एकाङ्गी प्रेम होता है । वे सुख-दुःख सभीमें भगवान्के कोमल कर्-कमलका सस्पर्श पाते हैं और इसीमें परम प्रसन्न रहते हैं । न उन्हें शिकायत है, न कामना है, न रज है, न दुःख है । वे मस्त हैं और इसीमें सुख तथा गौरवकी अनुभूति करते हैं । भगवान्के एक भक्तने अपनेको भगवान्के द्वारा परित्यक्ता सती पानीके रूपमें देखकर कहा है—

सच्ची सुहागिन, मैं सुहागिन, हूँ मेरे भर्तारकी ।
 भूखी हूँ मैं अपनत्वकी, भूखी नहीं सत्कारकी ॥
 मुझको वे अपनी मानते हैं, याद रखते नित मुझे ।
 इसीसे डरते नहीं हैं, दुःख देनेमें मुझे ॥

हैं सताते वे मेरे प्यारे मुझे दिल खोलकर ।
 हूँ सदा उनकी, हिचकते हैं नहीं यह बोलकर ॥
 दुःख देनेमें मुझे यदि उनको मिलता तनिक सुख ।
 यही तो सौभाग्य मेरा, यही मेरा परम सुख ॥
 चाहती हूँ मैं नहीं उनसे निजेन्द्रिय-सुख कभी ।
 इसीसे सुखदायिनी हैं हरकतें उनकी सभी ॥
 उनकी अपनी चीजपर उनका सदा अधिकार है ।
 मारें, ठुकरायें, सतायें, चूँकि वे मर्तार हैं ॥
 अपने मनसे बर्तते, कर भोगते वञ्चित मुझे ।
 यही तो आत्मीयता है, इसीका गौरव मुझे ॥

उसके मनमें इसीका परम सतोप होता है कि मेरे प्रियतम भगवान् मुझे स्मरण तो करते हैं, वैसे ही करें । वह किसी समय किसी प्रकार भी प्रत्याशा नहीं करता, अपने ही भावमें मस्त रहता है । प्रियतम भगवान्का दोष तो उसके चित्तमें कभी आता ही नहीं—

चढ़त न चातक चित्त कबहुँ प्रिय पयोद के दोष ।
 तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख ॥

पर ऐसा भक्त क्या दुखी रहता है ? वह तो अपने प्रियतम भगवान्के हृदयका अधिकारी होता है । भगवान् उसे लोभीके घनकी भाँति सदा अपने हृदयमें ही बसाते हैं ।



* इस प्रसङ्गको पढ़कर ससारमें कोई पति यह न समझे कि मैं इस प्रकार अपनी पत्नीको सतानेका अधिकारी हूँ, यों समझनेवाला भ्रममें रहेगा और पापके गड्ढेमें ही गिरेगा ।

श्रीकृष्ण-महिमाका स्मरण

श्रीश्रीकृष्णो जयति जगतां जन्मदाता च पाता
 हर्ता चान्ते हरति भजतां यश्च संसारभीतिम् ।
 राधानाथः सजलजलदश्यामलः पीतवासा
 वृन्दारण्ये विहरति सदा सच्चिदानन्दरूपः ॥
 ज्योतीरूपं परमपुरुषं निर्गुणं नित्यमेकं
 नित्यानन्दं निखिलजगतामीश्वरं विश्वबीजम् ।
 गोलोकेशं द्विभुजमुरलीधारिणं राधिकेशं
 वन्दे वृन्दारकहरिहरब्रह्मवन्द्याङ्घ्रिपादम् ॥
 नमो विश्वस्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे ।
 विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः ॥
 चर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
 राधामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

आज पवित्रतम श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी-महोत्सव है । भाद्रपदके
 अँधियारे कृष्णपक्षके मध्यकी अँधेरी अष्टमीको, अँधेरी मध्यरात्रिके
 घोर तमोऽभिभूत कालमें, तमोमय काले कर्म करनेवाले क्रूरहृदय
 कंसके अन्धकारपूर्ण कारागारमें अद्वितीय परमोज्ज्वलतम परमेश्वर
 श्रीकृष्णका कृष्णरूपमें आविर्भाव हुआ था । उनके प्रकट होनेके
 साथ ही कारागारकी उस अन्धकारमयी कालकोठरीमें दिव्य प्रकाश
 छा गया था । साथ ही विश्वके समस्त सत्पुरुषोंके हृदय, जो तमोमयी
 निराशासे आच्छादित थे, अकस्मात् अलौकिक प्रकाशसे सुदीप्त हो

उठे तथा तमाम प्रकृतिमें उल्लासकी उज्ज्वल तरङ्गें नाचने लगीं थीं । वसुदेव-देवकी, जो मन, प्राण, बुद्धि, आत्माकी सारी स्थूल-सूक्ष्म शक्तियोंसे शून्य-से होकर क्रूर कंसके कारागारमें सर्वथा परतन्त्र, सब ओरसे निराश, विषण्णहृदय हो शृङ्खलाबद्ध पड़े थे और सब प्रकारसे परित्राण करनेवाली एकमात्र दिव्य परम प्रकाश-स्वरूपा महान् शक्तिको अन्तस्तलकी करुण ध्वनिसे पुकार रहे थे एवं उसकी एकान्त आकुल प्रतीक्षा कर रहे थे, भाज इस चिरभिलषित अद्भुत प्रकाशके परमोदयसे परमाह्लादित हो गये । वास्तवमें जब व्यष्टि या समष्टि मानव इस प्रकार शक्तिशून्य हो, सब ओरसे सर्वथा निराश होकर अनन्यभावसे उस एकमात्र त्राणकर्ता परमाश्रयको पुकारता है, तभी वे सहज-सुहृद्, सर्वशक्तिमान् सर्वलोकमहेश्वर भगवान् स्वयं प्रकट होकर उसका परित्राण करते हैं । उस समय असुरभाराक्रान्त धरादेवीके सभी साधु पुरुष पीड़ित थे, इसीसे सर्वत्राणकारी भगवान्का दिव्य प्राकट्य हुआ था ।

‘यह दिव्य प्राकट्य क्यों होता है ?’

‘साधुओंके परित्राण, दुष्कृतोंके विनाश तथा धर्मकी भलीभाँति स्थापनाके लिये’ —

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय ············ ॥

‘कब होता है ?’

‘जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका क्षुब्धतान होता है’—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिः,
अधर्मस्य अभ्युत्थान भवति ।

‘प्राकट्य किनका होता है ?’

‘जो अजन्मा हैं, अविनाशी हैं तथा चराचर प्राणियोंके ईश्वर हैं, उनका’—

अज्ञोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

‘वे कैसे प्रकट होते हैं ?’

‘अपनी प्रकृति—निज स्वभावको अपने अधीन करके—
‘स्वां प्रकृतिमधिष्ठाय’ । वे भगवान् स्वरूपभूता मायासे—
‘आत्ममायया’ अपनी सर्वतन्त्र-रवतन्त्र इच्छासे प्रकट होते हैं ।—’

उनका यह प्राकट्य ‘प्रकृतिस्थ जीवोंकी भाँति कर्मपरवश नहीं होता, न उनका कोई कर्म ही किसी प्राकृतिक संस्कार-विशेषकी प्रेरणासे होता है । उनका जन्म (प्राकट्य) और उनके सभी कर्म दिव्य भगवत्स्वरूप ही होते हैं । यहाँतक कि उनके इन ‘दिव्य जन्म-कर्मोंके रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाले मनुष्यका जन्म होना बंद हो जाता है । वह शरीर त्यागकर पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता, भगवान्को ही प्राप्त होता है । इसकी बोधना स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने इन दिव्य शब्दोंमें की है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

(गीता ४ । ९)

‘जिनका परित्राण किया जाता है, वे साधु कौन हैं ?’

(क) वर्णाश्रमधर्म तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सामान्य मानवधर्मोंका पालन करनेवाले, संयम-सदाचार-परायण, सर्वभूतहितमें रत, वैराग्य-ज्ञानयुक्त दैवी सम्पत्तिवान् पुरुष ।

(ख) भगवान्के प्रत्यक्ष मङ्गल-दर्शनके लिये व्यथित, तपश्चर्या करनेवाले तथा भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीला आदिके श्रवण-कीर्तन-स्मरणमें लगे हुए भगवद्भक्त ।

(ग) प्रेम-लीलामय परम प्रेमास्पद भगवान्के पवित्र प्रेम-लीलारस-आस्वादनके लिये परमोत्सुक भक्ति-मुक्ति-त्यागी परम प्रेमीजन ।

‘दुष्कृत कौन है ?’

(क) साधुपुरुषोपर अत्याचार करनेवाले, हिंसा, असत्य, चोरी, छल, व्यभिचार आदि दुर्विचार तथा दुष्कर्मोंमें लगे हुए, शाल्विरुद्ध अन्यायाचरण करनेवाले, निपिद्ध भोगोंमें आसक्त आसुरी सम्पत्तिवान् उच्छृङ्खल मनुष्य ।

(ख) भगवान्का विरोध तथा खण्डन करनेवाले असदाचारी, गथेच्छाचारी नास्तिक व्यक्ति ।

(ग) विशुद्ध प्रेमके बाधक उच्च-नीच भोग-कामनाओंके भाव तथा उनके अधिष्ठाता पुरुषविशेष ।

ऋषिस्वभावसम्पन्न, सत्त्वगुण-विशिष्ट, सदाचारी सत्पुरुषोंका तथा उनके पवित्र कार्योंका अत्यन्त हास हो जाना ‘वर्मकी ग्लानि’ है और दुष्कृतों—दुराचारी लोगोंके द्वारा दुराचार,

लिये; विशिष्ट असुरवध, विशिष्ट साधु-परित्राण तथा साधारण धर्म-संस्थापनके लिये नहीं ।

‘स्वयं भगवान्’के प्राकट्यकालमें भगवान्के अंश-कला आदि अवतारोंका उन्हींमें समावेश रहता है, अतएव वे सब अपने विभिन्न ऐश्वर्यप्रधान लीला-कार्य भगवान् श्रीकृष्णस्वरूपसे ही करते रहते हैं ।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं—‘पते चांशकलाः प्रोक्ताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।’ अतएव उनके द्वारा सभी अवतारोंके लीला-कार्य सहजरूपमें हो सकते हैं । ‘ब्रह्मवैवर्त पुराण’ के अनुसार तो भगवान् श्रीकृष्णके गोलोकसे भूमिपर अवतरण करनेके समय भगवान् महाविष्णु, विष्णु, नारायण ऋषि आदि सभी आकर उन राधिकेश्वर-विग्रहमें विलीन हो जाते हैं और यहाँ उन्हींके द्वारा अपना लीला-कार्य करते हैं । वैसे तो ‘अंशी’ भगवान् श्रीकृष्णमें सभी ‘अंशों’का सदा-सर्वदा ही समावेश रहता है । इस जगत्में जब स्वयं अंशी ‘स्वयरूप’ श्रीकृष्णका प्राकट्य होता है, तब उन-उन अंश-कलारूप अवतारोंके कार्योंकी उनमें अभिव्यक्ति होती है और जब विभिन्न कालमें विभिन्न लीला-कार्यके लिये उन-उन अंश-कला-अवतारोंका प्राकट्य होता है, तब वे स्वतन्त्ररूपसे अपना-अपना लीला-कार्य सम्पन्न करते हैं । स्वरूपतः सभी अवतार नित्य शाश्वत, हानोपदानरहित और प्रकृतिसे पर एक ही परमात्म स्वरूप हैं । भगवान्के किसी अवतार-स्वरूपमें भगवत्ताकी या भागवती-शक्तिकी न्यूनता नहीं है । भगवान् सदा, सर्वत्र, सर्वथा परिपूर्ण

हैं। अवतारोंमें शक्तिकी न्यूनाधिक अभिव्यक्ति ही 'अंशी' और 'अंश' भावमें कारण है। सभी अवतारोंमें पूर्ण शक्तिकी अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती। जिस अवतार-लीलामे जितनी शक्तिका प्रकाश प्रयोजनीय होता है, उतना ही प्रकाश होता है। जैसे अग्निमें समस्त वस्तुओंके दाहकी शक्ति है, पर जहाँ उसके सामने छोटा-सा काष्ठखण्ड होता है, वहाँ वह उसीको जलाती है; इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अग्निकी शक्ति उतने ही काष्ठको जलानेमें सीमित है। इसी प्रकार भगवान्के अवतारोंको देखना चाहिये।

लीलाभेदसे भगवान्के अवतार तीन प्रकारके होते हैं—

(१) पुरुषावतार, (२) गुणावतार और (३) लीलावतार।

(१) पुरुषावतारके तीन भेद हैं—

(क) प्रकृतिका ईक्षण करनेवाले कारणार्णवशायी महाविष्णु।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

जगृहे पौरुषं रूपं भगवान्महदादिभिः।

सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥

(१।३।१)

“भगवान्ने आदिमें लोकसृष्टिके निर्माणकी-इच्छा की और उन्होंने महत्त्व आदिसे निष्पन्न 'पुरुष' रूप ग्रहण किया। उसमें दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच भूत—ये सोलह कटाएँ थीं।” भगवान्का चतुर्व्यूह है—श्रीवासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न

और अनिरुद्ध । उपर्युक्त श्लोकमें 'भगवान्' शब्द 'श्रीवासुदेव'के लिये प्रयुक्त है और आदिदेव नारायण भी यही हैं ।

आद्य पुरुषावतार उपर्युक्त चतुर्व्यूहमें 'श्रीसंकर्षण' हैं । 'कारणार्णवशायी' तथा 'महाविष्णु' इन्हींके नामान्तर हैं । यही 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' रूपमें पुरुषसूक्तमें वर्णित हैं । आद्य पुरुषावतार भगवान् ब्रह्माण्डमें अन्तर्यामीरूपसे प्रवेश करते हैं । (ख) द्वितीय पुरुषावतार चतुर्व्यूहमें 'श्रीप्रद्युम्न' हैं । यही गर्भोदशायी हैं । इन्हींके नामिकमलमें हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव होता है । (ग) तृतीय पुरुषावतार 'श्रीअनिरुद्ध' हैं, जो प्रादेशमात्र विग्रहसे व्यष्टि जीवमात्रके अन्तर्यामी हैं ।

(२) गुणावतार भी तीन हैं—(क) विश्वके सृष्टिकर्ता श्रीब्रह्मा, (ख) विश्वके पालनकर्ता क्षीरोदशायी श्रीविष्णु और (ग) विश्वके संहारकर्ता श्रीमहेश्वर । इनका आविर्भाव गर्भोदशायी द्वितीय पुरुषावतार श्रीप्रद्युम्नसे है । एक ही गर्भोदशायी परमात्मा विश्वकी स्थिति, पालन और संहारके लिये (सत्त्व, रज, तम) तीन गुणोंसे युक्त हैं; परंतु पृथक्-पृथक् अधिष्ठाताके रूपमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर संज्ञावो धारण करते हैं ।

(३) लीलावतार—“जिस कार्यमें किसी भी प्रकारका आयास-प्रयास न हो, जो सब प्रकार अपनी स्वतन्त्र इच्छाके अधीन हो और अनन्त प्रकारकी विचित्रताओंसे परिपूर्ण नित्य-नवविलास और उल्लास-तरङ्गोंसे युक्त हो, उस कार्यको 'लीला' कहते हैं ।” इस प्रकारकी लीलाके लिये भगवान्के जो अवतार

होते हैं, उन्हें 'लीलावतार' कहा जाता है । ऐसे लीलावतार २५ हैं । इन्हें 'कल्पावतार' भी कहते हैं । इनके अतिरिक्त चौदह 'मन्वन्तरावतार' और चार 'यज्ञावतार' हैं । यों कुल मिलाकर ४३ हैं । भगवान्के उपर्युक्त सभी अवतार (१) 'आवेश', (२) 'प्राभव', (३) 'वैभव' और (४) 'परावस्थ' रूपसे विभक्त हैं ।

'परावस्थ' अवतारोंकी अपेक्षा 'वैभवावतारों'में शक्तिकी अभिव्यक्ति कम होती है और 'प्राभव' अवतारोंमें 'वैभवावतारों'की अपेक्षा न्यूनता होती है । 'प्राभव' अवतारोंके दो भेद हैं तथा वैभवावतार २१ माने गये हैं ।

सर्वोपरि 'परावस्थ' अवतार तीन हैं—श्रीनृसिंह, श्रीराम और श्रीकृष्ण । ये षड्गुणपरिपूर्ण हैं—

'नृसिंहरामकृष्णेषु षड्गुण्यं परिपूरितम् ।'

—और समान 'परावस्थ' के हैं । यही तीनों मुख्य अवतार हैं । अतएव इनमें न्यूनाधिक तारतम्यकी कल्पना करना एक प्रकारसे बड़ा अपराध है । वास्तवमें लीलावतारोंका तत्त्व, महत्त्व तथा रहस्य अप्रमेय और अचिन्त्य हैं । लीलाकी अभिव्यक्तिके भेदसे इनके मङ्गलमय भेदकी लीला गायी जाती है । भगवान् श्रीनृसिंहमें अधिकांशमें केवल 'ऐश्वर्य'का प्रकाश है, भगवान् श्रीरामचन्द्रमें माधुर्यके साथ ऐश्वर्यका 'विशेष' प्रकाश है और भगवान् श्रीकृष्णमें ऐश्वर्य और माधुर्य—दोनों ही परिपूर्णतमरूपमें प्रकाशित हैं । स्वयंरूप भगवान् होनेसे श्रीकृष्ण 'अवतारी' और 'अवतार'

दोनों है। ये ही 'सर्वाश्रय-आश्रय' हैं। ये साक्षात् परब्रह्म, परात्पर, पुरुषोत्तम, सर्वकर्ता, अप्रमेय, आनन्दस्वरूप, अप्राकृत दिव्य-शरीरी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वातीत, अनन्त कल्याण-गुणगणस्वरूप, नित्य निर्गुण, अंश-कलापूर्ण, परिपूर्णतम-स्वरूप, सर्वोद्धार-प्रयत्नात्मा, दोष-कल्पनाशून्य तथा सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। साथ ही ये दीनबन्धु, विशुद्ध, सत्त्व, पुण्यमय, प्रेममय, दयामय, आप्तकाम, कर्मयोगी, असुरहन्ता, धर्मात्मा, वेदज्ञ, नीतिज्ञ, लोकहितैषी, न्यायशील, क्षमाशील, निरपेक्ष, मित्रमित्र, सुहृद्, ब्रह्मण्य, वदान्य, उदार, शास्ता, अत्याचारनाशक, अहता-ममतारहित, तपस्वी, शरणागतवत्सल एवं शक्तिमान् हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी एक विळक्षण विशेषता यह है कि ये आदर्श मानव भी हैं। प्राक्त्यके समयसे ही इनकी परमाश्चर्यमयी भगवत्ताका प्रकाश हो गया था। उस समयके व्यास-नारद-सरीखे महर्षि देवर्षि, मुनि मार्कण्डेय-कश्यप-परशुरामसदृश ऋषि-मुनि-प्रतापी, भीष्मपितामह-जैसे अलौकिक ब्रह्मक्षत्र-शक्तिसम्पन्न ज्ञानी तथा धर्मज्ञ, विदुर-जैसे साधुस्वभाव नीतिज्ञ, युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा, अर्जुन-सहदेव-जैसे विवेकी शूरीर, कुन्ती-गान्धारी तथा द्रौपदी-जैसी सन्नारियाँ—सभी भगवान् श्रीकृष्णको साक्षात् परमात्मा परमेश्वर परब्रह्म भगवान् मानते थे और उनके श्रीचरणोंमें मस्तक झुकाकर प्रणाम करनेमें गौरव, पुण्य तथा सौभाग्यका अनुभव करते थे। महाभारत और श्रीमद्भागवतमें ऐसे असंख्य प्रसङ्ग हैं। यहाँ कुछ चुने हुए प्रसङ्गोंके वाक्य दिये जाते हैं—

श्रीभीष्मपितामह—

(१)

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेव, भरद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल, पराशर, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, परशुराम, शुक्राचार्य, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन, अकृतव्रण आदि ऋषियों, वेदवादी विद्वान् ब्राह्मणों, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्मपितामह, धृतराष्ट्र, विदुर, वसुदेव, द्रुपद, अश्वत्थामा, द्रुम, भीष्मक, शल्य तथा कर्ण आदि वयोवृद्धों तथा शूरवीरोंकी उपस्थितिमें पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णकी अप्रपूजासे असंतुष्ट तथा क्षुब्ध शिशुपाळके आक्षेपोंका उत्तर देते हुए पितामह कहते हैं—

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः ।

त्रयणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥

(महाभारत, सभापर्व ३८ । ९)

‘महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे लिये ही परम पूजनीय हों, ऐसी बात नहीं है; ये तो तीनों लोकोके पूजनीय हैं ।’

न केवलं वयं कामाञ्चेदिराज जनार्दनम् ।

न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ।

अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ॥

गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ।

ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥

वैश्यानां धान्यधनवाञ्छूद्राणामेव जन्मतः ।

पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं हीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
 संनतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥
 ऋत्विग् गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः ।
 सर्वमेतद्धृषीकेशस्तत्त्वादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥

(१४-१५; १७-१८; २०, २२)

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः ।
 कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥
 एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
 परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः ॥
 बुद्धिर्मनो महद् वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
 चतुर्विधं च यद्भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥

(२३, २४, २५)

चेदिराज ! हमलोग किसी कामनासे, अपना सन्बन्धी मानकर
 अथवा इन्होंने हमारा किसी प्रकारका उपकार किया है, इस दृष्टिसे
 श्रीकृष्णकी पूजा नहीं कर रहे हैं । हमारी दृष्टि तो यह है कि ये
 इस भूमण्डलके सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाले हैं और बड़े-बड़े
 संत-महात्माओने इनकी पूजा की है । श्रीकृष्णके गुणोंको ही
 दृष्टिमें रखते हुए हमने यथोवृद्ध पुरुषोंका उल्लङ्घन करके इनको
 ही परम पूजनीय माना है । ब्राह्मणोंमें वही पूजनीय समझा जाता है,
 जो ज्ञानमें बड़ा हो तथा क्षत्रियोंमें वही पूजाके योग्य है, जो बलमें
 सबसे अधिक हो । वैश्योंमें वही सर्वमान्य है, जो धन-धान्यमें
 बढ़कर हो, केवल शूद्रोंमें ही जन्मकालको ध्यानमें रखकर, जो
 अवस्थामें बड़ा हो, उसको पूजनीय माना जाता है । श्रीकृष्णके

परम पूजनीय होनेमें दोनों ही कारण विद्यमान हैं । दान, दक्षता, शास्त्रज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि, और पुष्टि—ये सभी सदगुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य विद्यमान हैं । श्रीकृष्ण हमारे ऋत्विक्, गुरु, आचार्य, स्नातक, राजा और प्रिय मित्र सब कुछ हैं; इसीलिये हमने इन अच्युतकी अप्रपूजा की है ।

‘भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं । यह सारा चराचर विश्व इन्हींके लिये प्रकट हुआ है । ये ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन कर्ता तथा सम्पूर्ण भूतोंसे परे हैं, अतः ये भगवान् अच्युत ही सबसे बढ़कर पूजनीय हैं । महत्त्व, अर्धकार, मनसहित ग्यारह इन्द्रियों, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज—ये चार प्रकारके प्राणी सभी भगवान् श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं ।’

(२)

इसी प्रसङ्गमें युधिष्ठिरके पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा-का वर्णन करते हुए भीष्मपितामह कहते हैं—

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्यो य एष भगवान् प्रभुः ।
 पुत्रा नारायणो देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः ॥
 मातृशरीरो पुत्रो ध्रुवोऽव्यक्तः सनातनः ।
 मातृश्वः सहस्राम्यः सहस्रचरणो विभुः ।
 महस्रवाहः माहस्रो देवो नामसहस्रवान् ॥

ये सर्वशक्तिमान् भगवान् अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त स्वरूप धारण करके स्थित हैं। पूर्वकालमें ये भगवान् श्रीकृष्ण ही नारायणरूपमें स्थित थे। ये ही स्वयम्भू एव सम्पूर्ण जगत्के प्रपितामह हैं। इनके सहस्रो मस्तक हैं। ये ही पुरुष, ध्रुव, अव्यक्त एवं सनातन परमात्मा हैं। इनके सहस्रों नेत्र, सहस्रो मुख और सहस्रों चरण हैं। ये सर्वव्यापी परमेश्वर सहस्रों मुजाओ, सहस्रों रूपों और सहस्रों नामोंसे युक्त हैं।'

सहस्रमुकुटो देवो विश्वरूपो महाद्युतिः ।
 अनेकवर्णो देवादिव्यक्ताव् वै परः स्थितः ॥
 सृष्ट्वा चतुर्मुखं देवं देवो नारायणः प्रभुः ।
 स लोकानां हितार्थाय धीरोद्दे वसति प्रभुः ॥
 ब्रह्मा च सर्वदेवानां लोकस्य च पितामहः ।
 ततो नारायणो देवः सर्वस्य प्रपितामहः ॥
 अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ।
 नारायणो जगच्चक्रे प्रभवाप्ययसंहितः ॥
 एष नारायणो भूत्वा हरिरासीद् युधिष्ठिर ।
 ब्रह्माणं शशिसूर्यौ च धर्मं चैवासृजत् स्वयम् ॥
 बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः ।
 प्रादुर्भावांस्तु वक्ष्यामि दिव्यान् देवगणैर्युतान् ॥

इनके मस्तक सहस्रों मुकुटोंसे मण्डित हैं। ये महान् तेजस्वी देवता हैं। सम्पूर्ण विश्व इन्हींका स्वरूप है। इनके अनेक वर्ण हैं। ये देवताओंके भी आदिकारण हैं और अव्यक्त प्रकृतिसे परे (अपने सच्चिदानन्दघनस्वरूपमें स्थित) है। देवाधिदेव भगवान्

नारायण चतुर्मुख भगवान् (के रूपमें ये ही) ब्रह्माकी सृष्टि करके सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये क्षीरसागरमें निवास करते हैं । ब्रह्माजी सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकोंके पितामह हैं, इसलिये श्रीनारायणदेव सबके प्रपितामह हैं । जो अव्यक्त होते हुए व्यक्त शरीरमें स्थित हैं, सृष्टि और प्रलयकालमें भी जो नित्य विद्यमान रहते हैं, उन्हीं सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणने इस जगत्की रचना की है । युधिष्ठिर ! इन भगवान् श्रीकृष्णने ही नारायणरूपमें स्थित होकर स्वयं ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा और धर्मकी सृष्टि की है । ये समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं और लीलावश अनेक रूपोंमें अवतीर्ण होते रहते हैं । इनके सभी अवतार दिव्य हैं और देवगणोंसे संयुक्त भी हैं । मैं उन सबका वर्णन करता हूँ ।'

तदनन्तर वराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा कल्कि अवतारोंकी कथा संक्षेपमें कहकर अन्तमें बतलाते हैं—

वासुदेव इति ख्यातो लोकानां हितकृत् सदा ।
 वृष्णीनां च कुले जातो भूमेः प्रियचिकीर्षया ॥
 स नृणामभयं दाता मधुहेति स विश्रुतः ।
 शरुटार्जुनरामाणां किल स्थानान्यसूदयत् ॥
 कंसादीन् निजघानाजौ दैत्यान् मानुषविग्रहान् ।
 अयं लोकहितार्थाय प्रादुर्भावो महात्मनः ॥

“वासुदेव”के नामसे इनकी प्रसिद्धि है । ये सदा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहते हैं । भूदेवीका प्रिय कार्य करनेकी

इच्छासे इन्होंने वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण किया है । ये ही मनुष्यों-को अभयदान करनेवाले हैं । इन्हींकी 'मधुसूदन' नामसे प्रसिद्धि है । इन्होंने ही शकटासुर, यमलार्जुन और पूतनाके मर्मस्थानोंमें आघात करके उनका संहार किया है । मनुष्य-शरीरमें प्रकट हुए कंस आदि दैत्योंको युद्धमें मार गिराया । परमात्माका यह अवतार भी लोकहितके लिये ही हुआ है ।"

(३)

(भीष्मपर्व, अ० ५९)

महाभारत-युद्धके तीसरे दिन भीष्मपितामहने घोर संहार आरम्भ कर दिया । पाण्डवपक्षमें हाहाकार मच गया । तब भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं भीष्मके संहारकी इच्छा की और सुदर्शनचक्रका स्मरण किया । स्मरण करते ही सुदर्शन हाथमें आ गया । भगवान् रथसे उतर पड़े और बड़े वेगसे चक्र घुमाते हुए भीष्मकी ओर झपटे । उनके भयानक पदाघातसे पृथ्वी हिलने लगी और दिशाएँ काँप उठीं— 'संकम्पयन् गां चरणैर्महात्मा वेगेन कृष्णः प्रससार भीष्मम् ।' मानो समस्त जगत्का संहार करनेको उद्यत उठी हुई प्रलयाग्निके समान भगवान्को चक्र हाथमें लिये वेगसे आते देख, तनिक भी भय या घबराहटका अनुभव न करते हुए 'इच्छामृत्यु' परम ज्ञानी श्रीभीष्म अपने धनुषको खींचते हुए अनन्त पुरुषार्थशाली भगवान् श्रीकृष्णका आवाहन करते हुए बोले—

पह्येहि देवेश जगन्निवास

नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे ।

प्रसह्य मां पातय लोकनाथ
 रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये ॥ ९७ ॥
 त्वया हतस्यापि ममाद्य कृष्ण
 श्रेयः परस्मिन्निह चैव लोके ।
 सम्भावितोऽस्म्यन्धकवृष्णिनाथ
 लोकैस्त्रिभिर्वीर तवाभियानात् ॥ ९८ ॥

‘आइये, आइये, देवेश्वर ! जगन्निवास ! आपको नमस्कार है । हाथमें चक्र धारण किये हुए माधव ! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ ! आज युद्धभूमिमें बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये । श्रीकृष्ण ! आज आपके हाथसे यदि मैं मारा जाऊँगा तो इहलोक और परलोकमें भी मेरा बल्याण होगा । अन्धक और वृष्णिकुलकी रक्षा करनेवाले वीर ! आपके इस आक्रमणसे तीनों लोकोंमें मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी ।’

उसी क्षण अर्जुन पीछेसे दौड़कर भगवान्‌के चरणोंको पकड़कर उन्हें लौटा ले गये ।

(४)

(भीष्मपर्व, अ० १०६)

इसी प्रकार नवें दिन पुनः भीष्मजीके द्वारा पाण्डव-सेनामे प्रलयका-सा दृश्य उपस्थित देखकर भगवान् श्रीकृष्ण हाथमें केवल चाबुक लिये बारंबार सिंहनाद करते हुए भीष्मकी ओर बढ़े वेगसे दौड़े । आज भी भीष्मने कमलनयन श्रीकृष्णको आते देख तनिक भी

भयभीत न हो, अपने विशाल धनुषको खींचते हुए व्यग्रताशून्य मनसे भगवान् गोविन्दको सम्बोधित करके कहा—

उवाच चैव गोविन्दमसम्भ्रान्तेन चेतसा ।
 एह्येहि पुण्डरीकाक्ष देवदेव नमोऽस्तु ते ॥ ६४ ॥
 मामद्य सात्वतश्रेष्ठ पातयस्व महाहवे ।
 त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममानघ ॥ ६५ ॥
 श्रेय एव परं कृष्ण लोके भवति सर्वतः ।
 सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे ॥ ६६ ॥
 प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ ॥ ६६ ॥

‘आइये ! आइये ! कमलनयन ! देवदेव ! आपको नमस्कार है । सात्वतशिरोमणे ! इस महासमरमें आज मुझे मार गिराइये । देव ! पापरहित श्रीकृष्ण ! आपके द्वारा संग्राममें मारे जानेपर संसारमें सब ओर मेरा परम कल्याण ही होगा । गोविन्द ! आज इस युद्धमें मैं तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित हो गया । अनघ ! मैं आपका दास हूँ । आप अपने इच्छानुसार मुझपर प्रहार कीजिये ।’

(५)

पितामह भीष्म दुर्योधनको श्रीकृष्णकी महिमा समझाते हुए कहते हैं—

(भीष्मपर्व, अ० ६६)

एतच्छ्रुतं मया तात ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
 वासुदेवं कथयतां समवाये पुरातनम् ॥ २६ ॥

रामस्य जमदग्न्यस्य मार्कण्डेयस्य धीमतः ।
 व्यासनारदयोश्चापि सकाशाद् भरतर्षभ ॥ १७ ॥
 एतमर्थं च त्रिज्ञाय श्रुत्वा च प्रभुमव्ययम् ।
 वासुदेवं महात्मानं लोकानामीश्वरेश्वरम् ॥ २८ ॥
 (जानामि भरतश्रेष्ठ कृष्णं नारायणं प्रभुम् ।)
 यस्य चैवात्मजो ब्रह्मा सर्वस्य जगतः पिता ।
 कथं न वासुदेवोऽयमर्च्यश्चेज्यश्च मानवैः ॥ २९ ॥
 यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः ।
 योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः ॥ ३४ ॥
 राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः ।
 यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ३५ ॥

'तात ! एक समय शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका एक समाज जुटा हुआ था, जिसमें वे पुरातन भगवान् वासुदेवकी माहात्म्य-कथा कह रहे थे । उन्हींके मुँहसे मैंने ये सब बातें सुनी हैं । भरतश्रेष्ठ ! इसके सिवा जमदग्निनन्दन परशुराम, बुद्धिमान् मार्कण्डेय, व्यास तथा नारदसे भी मैंने यह बात सुनी है । भरतकुल-भूषण ! इस विषयको सुन और समझकर मैं वासुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको अविनाशी, प्रभु, परमात्मा, लोकेश्वरेश्वर और सर्वशक्तिमान् नारायण जानता हूँ । सम्पूर्ण जगत्के पिता ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं, वे भगवान् वासुदेव मनुष्योंके लिये आराधनीय तथा पूजनीय कैसे नहीं हैं ?'

'ये चराचरगुरु भगवान् श्रीहरि तीनों लोकोंको धारण करते हैं । ये ही योद्धा हैं, ये ही विजय हैं और ये ही विजयी हैं ।

सबके कारणभूत परमेश्वर भी ये ही हैं। राजन् ! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप और तम एवं रागसे रहित हैं। जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है।'

(भीष्मपर्व, अ० ६७)

अग्रजं सर्वभूतानां संकर्षणमकल्पयत् ।
 तस्मान्नारायणो जज्ञे देवदेवः सनातनः ॥ ११ ॥
 नाभौ पद्मं बभूवास्य सर्वलोकस्य सम्भवात् ।
 तस्मात् पितामहो जातस्तस्माज्जातास्त्विमाः प्रजाः ॥ १२ ॥
 केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः ।
 एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप ॥ २१ ॥
 एवमेनं विजानीहि आचार्यं पितरम् गुरुम् ।
 कृष्णो यस्य प्रसीदेत लोकास्तेनाक्षया जिताः ॥ २१ ॥
 यश्चैवैनं भयस्थाने केशवं शरणं व्रजेत् ।
 सदा नरः पठंश्चेदं स्वस्तिमान् स सुखी भवेत् ॥ २३ ॥
 ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः ।
 भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः ॥ २४ ॥
 स तं युधिष्ठिरो ज्ञात्वा याथातथ्येन भारत ।
 सर्वात्मना महात्मानं केशवं जगदीश्वरम् ।
 प्रपन्नः शरणं राजन् योगानां प्रभुमीश्वरम् ॥ २५ ॥

‘इन पूर्णतम परमात्मा श्रीकृष्णने पहले सम्पूर्ण भूतोके अग्रज संकर्षणको प्रकट किया। उनसे सनातन देशाधिदेव

नारायणका प्रादुर्भाव हुआ। नारायणकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ। सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिके स्थानभूत उस कमलसे भितामह ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और ब्रह्माजीसे ये सारी प्रजाएँ उत्पन्न हुई हैं।

“नरेश्वर ! सम्पूर्ण लोकोंके पितामह भगवान् श्रीकृष्ण परम तेज हैं। मुनिजन इन्हें ‘हृषीकेश’ कहते हैं। इस प्रकार इन भगवान् गोविन्दको तुम आचार्य, पिता और गुरु समझो। भगवान् श्रीकृष्ण जिनके ऊपर प्रसन्न हो जायँ, वह अक्षय लोकोंपर विजय पा जाता है। जो मनुष्य भयके समय इन भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेता है और सर्वदा इस स्तुतिका पाठ करता है, वह सुखी एवं कल्याणका भागी होता है। जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते; भगवान् जनार्दन उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं। भरतवंशी नरेश ! इस बातको अच्छी तरह समझकर राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण हृदयसे योगोंके स्वामी, सर्वसमर्थ, जगदीश्वर एवं महात्मा भगवान् केशवकी शरण ली है।”

(१)

वनमें पाण्डवोंसे मिलनेपर अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—

(वनपर्व, अ० १२)

क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामादिरन्तश्च केशव ।

निधानं तपसां कृष्ण यज्ञस्त्वं च सनातनः ॥ १७ ॥

‘केशव ! आप क्षेत्रज्ञ (सबके आत्मा), समस्त भूतोंके आदि और अन्त, तपस्याके अधिष्ठान, यज्ञ और सनातन पुरुष हैं’ ।

स त्वं नारायणो भूत्वा हरिरासीः परंतप ।
 ब्रह्मा सोमश्च सूर्यश्च धर्मो धाता यमोऽनलः ॥
 वायुर्वैश्रवणो रुद्रः कालः खं पृथिवी दिशः ।
 अजश्चराचरगुरुः स्रष्टा त्वं पुरुषोत्तम ॥२१-२२॥

‘परंतप ! आप ही पहले नारायण होकर फिर हरिरूपमें प्रकट हुए । ब्रह्मा, सोम, सूर्य, धर्म, धाता, यम, अनल, वायु, कुबेर, रुद्र, काल, आकाश, पृथ्वी, दिशाएँ, चराचर-गुरु, सृष्टिकर्ता और अजन्मा आप ही हैं’ ।

न क्रोधो न च मात्सर्यं नानृतं मधुसूदन ।
 त्वयि तिष्ठति दाशार्हं न नृशस्यं कुतोऽनृजुः ॥ ३५ ॥

‘मधुसूदन ! वास्तवमें आपमें न तो क्रोध है, न मात्सर्य है, न असत्य है, न निर्दयता ही है । दाशार्ह ! फिर आपमें कठोरता तो हो ही कैसे सकती है ?’

(२)

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
 पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥

मा० जी० ल० १०—

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
 असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥
 सर्वमेतद्वृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
 न हि ते भगवन् व्यक्तिं चिदुदेवा न दानवाः ॥
 स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
 भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥
 (१० । १२—१५)

‘आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं । आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं । देवर्षि नारद, असित, देवऋषि, महर्षि व्यास भी ऐसे ही कहते हैं । स्वयं आप भी मेरे प्रति यही कहते हैं । केशव ! मेरे प्रति आप जो कुछ भी कहते हैं, उस सबको मैं सत्य मानता हूँ । भगवन् ! आपके स्वरूपको न ढानव जानते हैं, न देवता ही । भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते ! पुरुषोत्तम ! आप स्वयं ही अपनेको जानते हैं ।’

वनमें भगवान् श्रीकृष्णसे द्रौपदी कहने लगी—

(वनपर्व, अ० १२)

विष्णुस्त्वमसि दुर्धर्षं त्वं यज्ञो मधुसूदन ।
 यथा त्वमसि यष्टव्यो जामदग्न्यो यथाब्रवीत् ॥ ५१ ॥
 ऋषयस्त्वां क्षमामाहुः सत्यं च पुरुषोत्तम ।
 सत्याद् यज्ञोऽसि सम्भूतः कश्यपस्त्वां यथाब्रवीत् ॥ ५२ ॥

साध्यानामपि देवानां शिवानामीश्वरेश्वर ।
 भूतभावन भूतेश यथा त्वां नारदोऽब्रवीत् ॥ ५३ ॥
 ब्रह्मशंकरशक्राद्यैर्देववृन्दैः पुनः पुनः ।
 क्रीडसे त्वं नरव्याघ्र बालः क्रीडनकैश्चि ॥ ५४ ॥
 द्यौश्च ते शिरसा व्याप्ता पद्भ्यां च पृथिवी प्रभो ।
 जठरं त इमे लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ५५ ॥
 लोकपालाश्च लोकाश्च नक्षत्राणि दिशो दश ।
 नभश्चन्द्रश्च सूर्यश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ५६ ॥
 मर्त्यता चैव भूतानाममरत्वं दिव्यौकसाम् ।
 त्वयि सर्वं महाबाहो लोककार्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ५९ ॥

‘दुर्धर्षं मधुसूदन ! आप ही विष्णु हैं, आप ही यज्ञ हैं, आप ही यजमान हैं, आप ही यजन करने योग्य श्रीहरि हैं, जैसा कि जमदग्निनन्दन श्रीपरशुरामजीका कथन है । पुरुषोत्तम ! महर्षिगण आपको क्षमा और सत्यका स्वरूप कहते हैं । सत्यसे उत्पन्न यज्ञ भी आप ही हैं । यह श्रीकृष्णपजीका कहना है । भूतभावन ! भूतेश्वर ! आप साध्य देवताओ तथा कल्याणकारी रुद्रोके अधीश्वर हैं, नारदजीने आपके सम्बन्धमें यह कहा है । नरश्रेष्ठ ! जैसे बालक खिलौनोसे खेलता है, वैसे ही आप ब्रह्मा, शंकर तथा इन्द्र आदि देवताओके साथ बार-बार खेलते रहते हैं । प्रभो ! स्वर्गलोक आपके मस्तकसे और पृथ्वी आपके चरणोसे व्याप्त है । ये सब लोक आपके उदरस्वरूप हैं । आप सनातन पुरुष हैं । लोक, लोकपाल,

नक्षत्र, ढसों दिशाएँ, आकाश, चन्द्रमा तथा सूर्य आपमें प्रतिष्ठित हैं । महाबाहो ! पृथ्वीके प्राणियोकी मृत्युपरवशता, देवताओकी अमरता तथा समस्त जगत्के सारे कार्य सब कुछ आपमें ही प्रतिष्ठित हैं ।'

वनमें मुनि मार्कण्डेयजी युधिष्ठिरसे कहते हैं—

(वनपर्व, अ० १८९)

यः स देवो मया दृष्टः पुरा पद्मायतेक्षणः ।
 स एष पुरुषद्वयात्र सस्वन्धी ते जनार्दनः ॥ ५२ ॥
 अस्यैव वरदानाद्धि स्मृतिर्न प्रजहाति माम् ।
 दीर्घमायुश्च कौन्तेय स्वच्छन्दमरणं मम ॥ ५३ ॥
 स एष कृष्णो चार्ष्णेय पुराणपुरुषो विभुः ।
 आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा क्रीडन्निव महाभुजः ॥ ५४ ॥
 एष धाता विधाता च संहर्ता चैव शाश्वतः ।
 श्रीवत्सवक्षा गोविन्दः प्रजापतिपतिः प्रभुः ॥ ५५ ॥
 दृष्ट्वेमं तृष्णिप्रवरं स्मृतिर्मांमियमागता ।
 आदिदेवमयं जिष्णुं पुरुषं पीतवाससम् ॥ ५६ ॥
 सर्वेषामेव भूतानां पिता माता च माधवः ।
 गच्छध्वमेनं शरणं शरण्यं कौरवर्षभाः ॥ ५७ ॥

‘नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! पुरातन प्रलयके समय मुझे जिन पद्मदललोचन देव भगवान् बालमुकुन्दका दर्शन हुआ था,

तुम्हारे सम्बन्धी ये भगवान् श्रीकृष्ण वे ही है । कुन्तीनन्दन ।
 इन्हींके वरदानसे मुझे पूर्वजन्मकी स्मृति भूळती नहीं है । मेरी
 दीर्घकालीन आयु और स्वच्छन्द मृत्यु भी इन्हींकी कृपाका
 प्रसाद है । ये वृष्णिकुलभूषण महाबाहु श्रीकृष्ण ही वे सर्वव्यापक
 अचिन्त्यस्वरूप, पुराणपुरुष श्रीहरि हैं, जिन्होंने पहले बालरूपमें
 मुझे दर्शन दिये थे । वे ही यहाँ अवतीर्ण हो भौंति-भौंतिकी ढीळएँ
 करते दीख रहे हैं । श्रीवत्स जिनके वक्षःस्थलकी शोभा बढ़ाता है,
 ये भगवान् गोविन्द ही इस विश्वकी सृष्टि, पालन और संहार
 करनेवाले, सनातन प्रभु और प्रजापतियोंके भी पति हैं ।
 इन आदिदेवमय, विजयशील, पीताम्बरधारी, परमपुरुष, वृष्णिकुल-
 भूषण श्रीकृष्णको देखकर मुझे उस पुरातन घटनाकी स्मृति हो आयी
 है । कुरुकुलश्रेष्ठ पाण्डवो ! ये माधव ही सम्पूर्ण प्राणियोंके पिता
 और माता हैं, ये ही सबको शरण देनेवाले हैं । अतः तुम सब
 लोग इन्हींकी शरण ग्रहण करो ।'

(१)

श्रीकृष्ण-तत्त्वके ज्ञाता भक्त संजय राजा धृतराष्ट्रको
 श्रीकृष्णकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं—

(उद्योगपर्व, अध्याय ६८)

एकतो वा जगत् कृत्स्नमेकतो वा जनार्दनः ।
 सारतो जगतः कृत्स्नादतिरिक्तो जनार्दनः ॥ ७ ॥

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
 ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ ९ ॥
 कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशवः ।
 आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम् ॥ १२ ॥
 कालस्य च हि मृत्योश्च जंगमस्थावरस्य च ।
 ईशते भगवानेकः सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ १३ ॥
 ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतो हरिः ।
 कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव वर्धनः ॥ १४ ॥
 तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः ।
 ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः ॥ १५ ॥

‘एक ओर सम्पूर्ण जगत् हो और दूसरी ओर अकेले
भगवान् श्रीकृष्ण हो तो सागभूत बलक्री दृष्टिसे वे भगवान्
जनार्दन ही सम्पूर्ण जगत्से बढ़कर सिद्ध होंगे ।’

‘जिस ओर सत्य, धर्म, लज्जा और सरलता है, उसी ओर
 भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं और जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण हैं,
 वही विजय है ।’

‘ये भगवान् केशव ही अपनी योगशक्तिसे निरन्तर कालचक्र,
 संसारचक्र तथा युगचक्रको घुमाते रहते हैं । मैं आपसे यह सच
 कहता हूँ कि एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही काल, मृत्यु तथा चराचर
 जगत्के स्वामी एवं शासक हैं । महायोगी श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्के
 स्वामी एवं ईश्वर होते हुए भी खेतीको बढ़ानेवाले किसानकी भाँति
 सदा नये-नये कर्मोंका आरम्भ करते रहते हैं । भगवान् केशव

अपनी मायाके प्रभावसे सब लोगोंको मोहमें डाले रहते हैं; किंतु जो मनुष्य केवल इन्हींकी शरण ले लेते हैं, वे इनकी मायासे मोहित नहीं होते हैं ।'

(२)

राजा धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजय श्रीकृष्णके कुछ नामोंका रहस्य बतला रहे हैं—

(उद्योगपर्व, अध्याय ७०)

कृपिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
 विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वतः ॥ ५ ॥
 पुण्डरीकं परं धाम नित्यमक्षयमव्ययम् ।
 तद्भावात् पुण्डरीकाक्षो दस्युत्रासाज्जनार्दनः ॥ ६ ॥
 यतः सत्त्वान्न च्यवते यच्च सत्त्वान्न हीयते ।
 सत्त्वतः सात्वतस्तस्मादार्षभाद् वृषभेक्षणः ॥ ७ ॥
 न जायते जनित्रायमजस्तस्मादनीकजित् ।
 देवानां स्वप्रकाशत्वाद् दमाद् दामोदरो विभुः ॥ ८ ॥
 हर्षाद् सुखात् सुखैश्वर्याद्दधृपीकेशत्वमश्नुते ।
 बाहुभ्यां रोदसी विभ्रन्महाबाहुरिति स्मृतः ॥ ९ ॥

'कृष्' घातु 'सत्ता' अर्थका वाचक है और 'ण' शब्द 'आनन्द' अर्थका बोध कराता है; इन दोनों भावोंसे युक्त होनेके कारण यदुकुलमें अवतीर्ण हुए नित्य आनन्दस्वरूप श्रीविष्णु 'कृष्ण' कहलाते हैं । नित्य, अक्षय, अविनाशी एवं परम भगवद्धामका नाम 'पुण्डरीक' है । उसमें स्थित

होकर जो अक्षतभावसे विराजते हैं, वे भगवान् 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाते हैं । (अथवा 'पुण्डरीक'—कमलके समान उनके 'अक्षि'—नेत्र हैं, इसलिये उनका नाम 'पुण्डरीकाक्ष' है ।) दस्युजनोंको त्रास (अर्दन या पीड़ा) देनेके कारण उनको 'जनार्दन' कहते हैं । वे सत्त्वसे कभी च्युत नहीं होते और न सत्त्वसे ही अलग होते हैं, इसलिये सद्भावके सम्बन्धसे उनका नाम 'सात्त्वत' है । 'आर्ष' कहते हैं वेदको । उससे भासित होनेके कारण भगवान्का एक नाम 'आर्षभ' है । आर्षभके योगसे ही ये 'वृषभेक्षण' कहलाते हैं । (वृषभका अर्थ है वेद, वही ईक्षण—नेत्रके समान उनका ज्ञापक है; इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'वृषभेक्षण' नामकी सिद्धि होती है ।) शत्रुसेनाओंपर विजय पानेवाले ये भगवान् श्रीकृष्ण किसी जन्मदाताके द्वारा जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये 'अज' कहलाते हैं । देवता स्वयं प्रकाशरूप होते हैं, अतः उत्कृष्ट रूपसे प्रकाशित होनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णको 'उदर' कहा गया है और 'दम' (इन्द्रियसंयम) नामक गुणसे सम्पन्न होनेके कारण उनका नाम 'दाम' है । इस प्रकार 'दाम' और 'उदर' इन दोनों शब्दोंके संयोगसे वे 'दामोदर' कहलाते हैं । वे हर्ष अर्थात् सुखसे युक्त होनेके कारण 'हृषीक' हैं और सुख-ऐश्वर्यसे सम्पन्न होनेके कारण 'ईश' कहे गये हैं । इस प्रकार वे भगवान् 'हृषीकेश' नाम धारण करते हैं । अपनी दोनों बाहुओंद्वारा भगवान् इस

पृथ्वी और आकाशको धारण करते हैं, इसलिये उनका नाम 'महाबाहु' है ।”

अधो न क्षीयते जातु यस्मात् तस्मादधोक्षजः ।
 नराणामयनाच्चापि ततो नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥
 पूरणात् संदनाच्चापि ततोऽसौ पुरुषोत्तमः ।
 असतश्च सतश्चैव सर्वस्य प्रभवाप्ययात् ॥ ११ ॥
 सर्वस्य च सदा ज्ञानात् सर्वमेतं प्रचक्षते ।
 सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितम् ॥ १२ ॥
 सत्यात् सत्यं तु गोविन्दस्तस्मात् सत्योऽपि नामतः ।
 विष्णुर्विक्रमणाद् देवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते ॥ १३ ॥
 शाश्वतत्वादनन्तश्च गोविन्दो वेदनाद् गवाम् ।
 अतत्त्वं कुरुते तत्त्वं तेन मोहयते प्रजाः ॥ १४ ॥

“श्रीकृष्ण कभी नीचे गिरकर क्षीण नहीं होते, अतः ('अधो न क्षीयते' इस व्युत्पत्तिके अनुसार) 'अधोक्षज' कहलाते हैं । वे नरों (जीवात्माओ) के अयन (आश्रय) हैं, इसलिये उन्हें 'नारायण' भी कहते हैं । वे सर्वत्र परिपूर्ण हैं तथा सबके निवासस्थान हैं, इसलिये 'पुरुष' हैं और सब पुरुषोंमें उत्तम होनेके कारण उनकी 'पुरुषोत्तम' संज्ञा है । वे सत् और असत् सबकी उत्पत्ति और लयके स्थान हैं तथा सर्वदा उन सबका ज्ञान रखते हैं, इसलिये उन्हें 'सर्व' कहते हैं । श्रीकृष्ण सत्यमें प्रतिष्ठित हैं और सत्य' इनमें प्रतिष्ठित है । वे भगवान् गोविन्द सत्यसे भी उत्कृष्ट सत्य हैं,

अतः उनका एक नाम 'सत्य' भी है। विक्रमण (वामनावतारमें तीनों लोकोको आक्रान्त) करनेके कारण वे (भगवान् 'विष्णु' कहलाते हैं ।) वे सबपर विजय पानेसे 'जिष्णु', शाश्वत (नित्य) होनेसे 'अनन्त' तथा गौधो (इन्द्रियों) के ज्ञाता और प्रकाशक होनेके कारण (गा विन्दति) इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'गोविन्द' कहलाते हैं । वे अपनी सत्ता-स्फूर्ति देकर असत्यको भी सत्य-सा कर देते हैं और इस प्रकार सारी प्रजाको मोहमें डाल देते हैं ।”

संजयके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी महिमा सुनकर उससे प्रभावित हो धृतराष्ट्र स्तवन करने लगे—

(उद्योगपर्व, अ० ७१)

ऋषिं सनातनतमं विपश्चितं वाचः समुद्रं कलशं यतीनाम् ।
 अरिष्टनेमिं गरुडं सुपर्णं हरिं प्रजानां भुवनस्य धाम ॥
 सहस्रशीर्षं पुरुषं पुराणमनादिमध्यान्तमनन्तकीर्तिम् ।
 शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं परं परेशं शरणं प्रपद्ये ॥
 त्रैलोक्यनिर्माणकरं जनित्रं देवासुराणामथ नागरक्षसाम् ।
 नराधिपानां विदुषां प्रधानमिन्द्रानुजं तं शरणं प्रपद्ये ॥
 (५—७)

‘जो परम सनातन ऋषि, ज्ञानी, वाणीके समुद्र और प्रयत्नशील साधकोंको कलशके जलके सदृश सुलभ होनेवाले हैं,

जिनके चरण समस्त विघ्नोका निवारण करनेवाले है, सुन्दर पक्षयुक्त गरुड़ जिनके स्वरूप है, जो प्रजाजनोके पाप-ताप हरनेवाले तथा विश्वके आश्रय है, जिनके सहस्रो मस्तक हैं, जो पुराणपुरुष है, जिनका आदि-मध्य-अन्त नहीं है, जो अक्षय कीर्तिसे सुशोभित, वीज एवं वीर्य धारण करनेवाले, अजन्मा, नित्य एवं परात्पर परमेश्वर है, उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण लेता हूँ । जो तीनों लोकोका निर्माण करनेवाले हैं, जिन्होंने देवताओं, असुरों, नागों तथा राक्षसोंको भी जन्म दिया है, जो ज्ञानी नरेशोंमें प्रधान हैं, इन्द्रके छोटे भाई वामनस्वरूप उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ।'

देवर्षि नारद श्रीयुधिष्ठिरसे श्रीमद्भागवत

(७ । १५) में कहते हैं—

यूयं नृलोके वत भूरिभागा
 लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।
 येषां गृहानावसतीति साक्षाद्
 गूढं पर ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥ ७५ ॥
 स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्यं
 कैवल्यनिर्वाणसुप्तानुभूतिः ।
 प्रियः सुहृद् वः खलु मातुलेय
 आत्मार्हणीयो विधिकृद् गुरुश्च ॥ ७६ ॥

न यस्य साक्षाद् भवपद्मजादिभी

रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।

मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः

प्रसीदतामेव स सात्वतां पतिः ॥ ७७ ॥

“युधिष्ठिर ! इस मनुष्यलोकमें तुमलोग वड़े ही सौभाग्यशाली हो, क्योंकि साक्षात् परब्रह्म परमात्मा मनुष्यके रूपमें तुम्हारे घरमें गुप्तरूपसे निवास करते हैं । इसीसे संसारभरको पवित्र कर देनेवाले ऋषि-मुनि बार-बार उनका दर्शन करनेके लिये चारों ओरसे तुम्हारे पास आया करते हैं । वड़े-बड़े महापुरुष, जिन मायाके लेशसे रहित परम शान्त परमानन्दानु-भवस्वरूप परब्रह्म परमात्माको ढूँढ़ते रहते हैं, वे ही तुम्हारे प्रिय, हितैषी, ममेरे भाई, पूजनीय, आज्ञाकारी, गुरु और स्वयं आत्मा श्रीकृष्ण हैं । शंकर, ब्रह्मा आदि भो अपनी सारी बुद्धि लगाकर ‘वे वड़ हैं’—इस रूपमें उनका वर्णन नहीं कर सके, फिर हम तो कर ही कैसे सकते हैं ? हम तो मौन, भक्ति तथा संयमके द्वारा ही उन श्रीकृष्णकी पूजा करते हैं । वे भक्तवत्सल भगवान् हमारी यह पूजा स्वीकार करके हमपर प्रसन्न हों ।”

भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें अर्जुनसे कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

‘अर्जुन ! मेरा भक्त मुझको यज्ञ और तपोका भोगनेवाला और सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद्—स्वार्थरहित प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ।’

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥

(७ । २५-२६)

‘अपनी योगमायासे समावृत मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूँ, इसलिये अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित अविनाशी परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता है । अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परंतु मुझको कोई भी पुरुष नहीं जानता है ।’

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(८ । ५)

‘जो पुरुष अन्तकालमें मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।’

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

(७ । ७)

‘धनजय ! मुझसे अनिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है ।’

मया ततमिदं सर्वं जगद्व्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥
यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥

(९ । ४-६)

‘अर्जुन ! मुझ अव्यक्तमूर्ति परमात्मासे यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत स्थित हैं, इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ और वे सब भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं; किंतु मेरी योगमाया और प्रभावको देख कि भूतोका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है, क्योंकि जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पके द्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान ।’

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
 मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥
 पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
 वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥
 गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
 प्रथवः प्रलयः स्थानं निधानं वीजमव्ययम् ॥

(९ । १३-१८)

यो मामजमनादि च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
 असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
 अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
 इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

(१० । ३, ८)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
 अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
 यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
 तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥
 अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
 विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

(१० । २०, ४१-४२)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
 यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

(१५ । १२)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
 मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
 वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
 वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

(१५ । १५)

‘क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म मैं हूँ’ यज्ञ अर्थात् पञ्चमहायज्ञादि स्मार्तकर्म मैं हूँ, स्वधा अर्थात् पितरोंके निमित्त दिया जानेवाला अन्न मैं हूँ, ओषधि अर्थात् सब वनस्पतियाँ मैं हूँ एवं मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ । अर्जुन ! मैं ही इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण-पोषण करनेवाला एवं कर्मके फलको देनेवाला तथा पिता-माता और पितामह हूँ और जाननेयोग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ । प्राप्त होने योग्य तथा भरण-पोषण करनेवाला सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका निवासस्थान और शरण लेनेयोग्य तथा प्रति-उपकार न चाहकर हित करनेवाला और उत्पत्ति-प्रलयरूप तथा सबका आधार, निधान और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ ।’

‘जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित और अनादि तथा लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापसे मुक्त हो जाता है । मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार तत्त्वसे समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त हुए बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं ।’

‘अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ । अर्जुन ! जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई

जान । अथवा अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ । इसलिये मुझको ही तत्त्वसे जानना चाहिये ।'

‘अर्जुन ! सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें स्थित है और जो तेज अग्निमें स्थित है, उसको तू मेरा ही तेज जान ।’

‘मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्त्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ ।’

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
 अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
 यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
 स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

(१५ । १८-१९)

‘मैं नाशवान् प्राणियोंसे सर्वथा अतीत हूँ और अक्षर (ब्रह्म) से उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी ‘पुरुषोत्तम’ नामसे प्रसिद्ध हूँ । भारत ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मुझको ‘पुरुषोत्तम’ जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ चासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ।’

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
 इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

(१८।६४-६५)

‘अर्जुन ! सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय, मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन, क्योंकि तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तेरे लिये कहूँगा । तू मुझमें ही मन लगानेवाला हो, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा कर, मुझे ही नमस्कार कर । यों करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा । यह मैं सत्य प्रतिज्ञा करके तुझसे कहता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है ।’

ऐश्वर्य-लीला

उपर्युक्त प्रसङ्गोंके उद्धृत वाक्योंसे यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीकृष्णके समकालीन महान्-से-महान् पुरुष उन्हें साक्षात् परात्पर भगवान् समझते थे और उन्होंने स्वयं भी अपनी परात्परता, भगवत्ता तथा सर्वाश्रयताको मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है । उनके मङ्गलमय आविर्भावके समयसे अलौकिक अद्भुत चमत्कारपूर्ण लीलाएँ आरम्भ हो गयी थीं—पूतना, तृणावर्त, शकटासुर, अघासुर आदिका उद्धार, गोवर्धनधारण, कालियदमन, सुरपति इन्द्रके गर्वञ्चरका हरण, चतुर्मुख ब्रह्माके ज्ञानदर्प तथा मोहका शमन, माता यशोदाको मुखमें विश्वदर्शन, कुवेरपुत्रोंका वृक्षयोनिसे उद्धार, कंस-उद्धार आदि ऐश्वर्यप्रधान आश्चर्य-लीलाएँ हुईं । कुल चौंसठ दिनोंमें उन्होंने चारो वेद, छहों वेदान्त—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द—आलेख्य, गणित, संगीत तथा दैद्यक, पचास दिनोंमें दसों

अङ्गोसहित धनुर्वेद और बारह दिनोंमें हाथी, घोड़े आदिकी शिक्षामें पारङ्गत होनेकी लीला की। फिर गुरुदक्षिणामें सांढीपनि मुनिके मृतपुत्रको ला दिया।

माधुर्य-लीला

इस प्रकार भगवत्ताकी अलौकिक लीलाओंके परिपूर्ण आदर्श जीवनके साथ ही श्रीकृष्णमें मानवताके सभी चरम और परम सद्गुणोंका पूर्ण प्रकाश था। श्रीयशोदा, रोहिणी तथा अन्यान्य मातृस्थानीया वात्सल्यरसमयी गोपदेवियोंको पुत्र-सुखप्रदान, सखाम, वसे गोपबालकोंके साथ सम्भ्रमरहित निःसंकोच क्रीडा, वत्स-गोचारण, गोपाङ्गनाओंके साथ पवित्र मधुर लीला, मधुर-मुरली-वादन आदि व्रजकी मधुर लीलाएँ प्रसिद्ध हैं।

परस्परविरोधी गुण

पिता-माता वसुदेव-देवकीकी सेवा करना और उन्हें ज्ञानोपदेश देना, पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें समागत अतिथियोंके चरण-प्रक्षालन करना और उसी यज्ञमें अप्रपूजन—अर्थ स्वीकार करना, अर्जुनका रथ हाँकना और वहीं महान् आचार्य तथा साक्षात् भगवद्रूपसे गीताका उपदेश देना, नारदादि ऋषियोंका पूजन करना और साथ ही उनके द्वारा की हुई पूजाको स्वीकार करना प्रभृति परस्परविरोधी गुणोंका भगवान् श्रीकृष्णमें एकत्र समावेश प्रत्यक्ष था।

आदर्श मानवता तथा सर्वगुणसम्पन्नता

श्रीकृष्ण गानविद्या तथा नृत्यकलाके निपुण ज्ञाता थे। महान् योगीश्वरेश्वर तथा योगेश्वरेश्वर थे। विलक्षण वाग्मी थे—इसीसे

जब आप पाण्डवोंकी ओरसे संधि-प्रस्ताव लेकर कौरव-सभामे गये थे, तब हजारों-हजारो ज्ञानी, विद्वान्, तपस्वी ऋषि-महर्षि-मुनि आपका भाषण सुननेके लिये अपने एकान्त आश्रमोंको त्यागकर वहाँ एकत्र हुए थे । श्रीकृष्ण दीन-दुखी-दुर्बलोंके सच्चे सेवक तथा हितैषी थे । राजप्रासादके स्वादिष्ट छप्पन भोगका परित्याग कर विदुरजीकी कुटियामे स्वयं जाकर विदुरपत्नीके दिये हुए साग-सब्जी या केलेके छिलकोंका भोग लगाना, सुदामाके चिउरोंको मुट्टी भरकर खड़े-खड़े फाँक जाना, मिथिलाराज बह्मलाश्वके साथ ही गरीब ब्राह्मण श्रुतदेवके घरका आतिथ्य स्वीकार करना आदि आपके आदर्श लीलचरित्र हैं ।

आदर्श राजनीतिज्ञता

भगवान् श्रीकृष्णके समान आदर्श तथा कुशल राजनीतिज्ञ तो कोई हुए ही नहीं । उनकी राजनीति-निपुणता तथा पवित्र राजनीतिज्ञताकी कहीं कोई उपमा नहीं है । उसमें आदर्श त्याग, न्याय, सत्य, दया, उदारता, यथार्थ लोकहित तथा विलक्षण जनकल्याण आदि सद्भावोंका पूर्ण विकास है । उनकी राजनीति पाशविकता और आसुरभावका नाश करके सर्वहितकारिणी विशुद्ध मानवता तथा दैवीभावका सस्थापन करनेवाली है । उसमें कहीं भी व्यक्तिगत स्वार्थ, नीच महत्वाकाङ्क्षा, नीचाशयता, अभिमान, द्वेष, अधिकारमद, कुर्सीका मोह, ईर्ष्या तथा भोग-प्रधानताको स्थान नहीं है । 'इस लोकमें सर्वाङ्गीण अभ्युदय तथा 'परम निःश्रेयस्—मोक्षकी प्राप्ति' उसका अमोघ फल है ।

भगवान् श्रीकृष्ण बड़े-बड़े सम्राटोंके अधिपति तथा पूज्य हैं । न्यायपूर्ण धर्मप्राण आदर्श राज्यों तथा राजाओंके कुशल निर्माता हैं, पर स्वयं किसी भी पदपर आसीन नहीं हैं; वे सदा ही जनसेवक हैं । उनकी राजनीतिको आदर्श मानकर उसे ग्रहण किया जाय तो आज जिस द्वेष-दम्भपूर्ण परोत्कर्ष-असहिष्णु, पटलोपता-प्रधान, नीचता तथा क्षुद्र वज्रस्वार्थसे पूर्ण जघन्य राजनीतिके कारण सारे जगत्में जो घोर मनोमालिन्य, पाशविक तथा आसुरिक कलह, बढ़ती हुई अशान्ति, जनसाधारणकी भयभीत स्थिति तथा विध्वंसक गल्लान्तोंके निर्माणमें विज्ञानका दुरुपयोग हो रहा है, वह तत्काल दूर होकर जगत्में शान्तिस्थापन तथा मानवजातिका कल्याण हो सकता है ।

हमारा यह परम सौभाग्य है कि हमें आज भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्य-महोत्सवके उपलक्ष्यपर भगवान्के दिव्य स्मरण करने तथा भगवान्के गुण-महत्त्वकी मद्दल-चर्चा करनेका सुअवसर मिला है । जगत्का भी यह परम सौभाग्य है कि उसे भगवान् श्रीकृष्णके लीलाचरित्रका आदर्श उपलब्ध है । हमारा परम कर्तव्य है कि हम भगवान् श्रीकृष्णका भजन-स्मरण करें, उनके श्रीचरणोंमें मन लगावें और अपने-अपने अधिकार तथा रुचिके अनुसार ज्ञानयोग, भक्तियोग, सतत नाम-गुण-कीर्तन, सर्वकालमें उनका अखण्ड स्मरण, प्रीतिपूर्वक अनन्य भजन, उनके अपने आदर्शके अनुसार निष्कामकर्मका अनुष्ठान, उनका स्वरूप समझकर प्राणीमात्रकी स्वकर्मके द्वारा सेवा एवं अनन्य शरणागति आदिके

द्वारा उनको संतुष्ट करें और उनकी कृपासे मानव-जीवनको सफल बनायें । कम-से-कम प्रेमपूर्वक उनकी दिव्यलीलाओंका अधिक-से-अधिक श्रवण, गायन, स्मरण करके अपने तन-मन-वाणीका सदुपयोग करें । देवी कुन्तीजीने तो भगवान् श्रीकृष्णके अवतारका यही प्रयोजन बतलाया है—

भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ।
 श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ॥
 शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
 स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
 त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
 भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥

(श्रीमद्भा० १।८।३५-३६)

‘इस ससारमें लोग अज्ञान, कामना तथा कर्मोंके कुचक्रमें पड़े हुए पीड़ित हो रहे हैं । उन लोगोंके लिये श्रवण तथा स्मरण करने योग्य लीला करनेके लिये ही आपने अवतार लिया है । भक्तजन बार-बार आपकी मधुर दिव्य लीलाओंका श्रवण, गायन, कीर्तन तथा स्मरण करके आनन्दित होते रहते हैं और वे अविम्व इस जन्म-मरणके प्रवाहको शान्त करनेवाले आपके श्रीचरणकमलोंका दर्शन प्राप्त करते हैं ।

जय वसुदेव-देवकीनन्दन, जय श्रीनन्द-यशोदालाल ।
 जय यदुनायक गीतागायक, जय गोपीप्रिय जय गोपाल ॥
 वोहो नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय ।



श्रीराधा-माधवका मधुर रूप-गुण-तत्त्व

श्रीराधां परमाराध्यां कृष्णसेवापरायणाम् ।
 श्रीकृष्णाङ्गसदाध्यात्रीं परमाभक्तिरूपिणीम् ॥
 स्वेदकम्पकण्टकाश्रुगद्गदादिसंचिता-
 मर्षहर्षवामतादिभावभूषणाञ्चिता ।
 कृष्णनेत्रतोषिरत्नमण्डनालिदाधिका
 मह्यमात्मपादपद्मदास्यदास्तु राधिका ॥
 या क्षणार्धकृष्णविप्रयोगसंततोदिता
 नैकदैन्यचापलादिभाववृन्दमोदिता ।
 यत्नलब्धकृष्णसङ्गनिर्गताखिलाधिका
 मह्यमात्मपादपद्मदास्यदास्तु राधिका ॥

आज श्रीराधा-प्राकट्य-महोत्सवका मङ्गल दिवस है । श्रीराधाके तीन रूप हैं—

१. शक्तिमान् 'रस' ब्रह्मकी 'भाव' रूपा नित्य ह्लादिनी-स्वरूपाशक्ति, जो क्षणादिकालसे 'अमूर्त'रूपमें शक्तिमान्के साथ अपृथक् रूपमें विराजित है ।